गद्य मुक्ता-हार

अर्थात्

[हिन्दी गद्य की भिन्न शैलियों के चुने हुए सन्दर्भ]

सङ्कलनकर्त्ता व सम्पादक

अयोध्यानाथ शर्मा, एम० ए०

अध्यापक, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।

प्रकाशक

गौतम ब्रादर्स, मेस्टन रोड, कानपुर।

१९३२

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१ मन्त्रणा	श्री भारतेंदु हरिश्चंद्र	१
२ धोखा	पं० प्रतापनारायण मिश्र	१५
३ कवि और चितेरे की डाँडामेड़ी	पं० बालकृष्ण भट्ट	२३
४ हिंदी के आरंभिक अखबार	बा० बालमुकुंद गुप्त	३०
५ दमयंती का चंद्रोपालंभ	आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी	४१
६ श्री राम की एक झलक	श्री दिनेशचंद्र सेन	५७
७ भारतीय साहित्य की विशेषताएँ	आचार्य श्यामसुंदर दास बी० ए०	६७
८ रामलीला	श्री माधवप्रसाद मिश्र	७७
९ आचरण की सभ्यता	अध्यापक पूर्ण सिंह	८४
१० बिहारी की बहुज्ञता	श्री पद्मसिंह शर्मा	१०५
११ काव्य में प्राकृतिक दृश्य	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	१२८
१२ महातीर्थ	श्री प्रेमचंद	१५४
१३ गुप्त अभिसंधि	बा० जयशंकर प्रसाद	१७३
१४ उपन्यास	श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	१८५
१५ आगरा पर हिंदी कवि	श्री वियोगी हरि	१९८
१६ कला और कृत्रिमता	श्री रायकृष्णदास	२०९
१७ साधना	श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश'	२१७
१८ महाकवि केशव	पं० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, एम ए	२३०

४ हिंदी-गद्य का दिग्दर्शन



प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन का विकास संबंधी सिद्धात सृष्टि की विषय प्रवग प्राय सभी वस्तुओं पर, किसी न किसी रूप से लागू होता है। संसार की सब वस्तुओं में आदि काल से निरंतर अस्तित्व के लिए संग्राम (Struggle for existence) होता आ रहा है। जो प्राणी या पदार्थ अधिक बलवान होता है उसके उदर में निर्बल प्राणी या पदार्थ का समावेश हो जाता है और इस समिलन से धीरे-धीरे एक नवीन प्राणी या पदार्थ का जन्म होता रहता है। आज हम विश्व की जितनी वस्तुएँ—मनुष्य, पशु, वृक्ष, पुष्प, पक्षी, जल-जन्तु आदि—जिस रूप में देखते हैं उनका आदिम स्वरूप कुछ और ही था, लगातार जीवन-संघर्ष के अनंतर उनमें आरंभ से लेकर अब तक असख्य परिवर्तन एवं परिमार्जन हो चुके हैं, और होते रहेंगे। यही बात संसार की भाषाओं के विषय में भी पूर्णतया कही जा सकती है। किसी भी भाषा को उदाहरण के लिए ले लीजिए। उसके उद्गम की खोज में उसके प्रवाह के ऊपर की ओर चलिए। आपको उसके क्रमश अनेक रूप दिखाई पड़ेंगे। इसको समझने के लिए अपनी मातृ-भाषा को ही क्यों न लिया जाय? इस भाषा का जो स्वरूप इन पंक्तियों में मिल रहा है वह सौ वर्ष पूर्व नहीं था, वह न चंद के

'पृथ्वीराज रासो' में था, और न नरपतिनाल्ह के 'बीसलदेव रासो' मे ही। यदि इनके कुछ और पूर्व के उपलब्ध ग्रथों के पन्ने उलटें तो उनको भाषा का कुछ ऐसा रूप-रग दिखाई पड़ता है जिसे हम अपनी भाषा कहने तक में सकोच करने लगेंगे। उनमें भाषा का एक दूसरा ही रूप मिलता है। यदि हम इस भाषा-सरिता के स्रोत की ओर और भी बढ जायँ तो थोडी थोडी दूर पर हमें एक-दूसरे से भिन्न धाराएँ उसी प्रकार अलग दिखाई पडेंगी जिस प्रकार प्रयाग मे गगा और जमुना का जल। भाषा-सरिता के उद्गम की यह खोज बडी मनोरजक है। अनेक भाषा-विज्ञानियो ने इस अन्वेषण म पर्याप्त श्रम किया है। किंतु अभी तक आदिम उद्गम-स्थल का पता नहीं चल सका। सब की यात्राएँ एक ही पथ पर हुई भी नहीं। कुछ दूर तक तो वे प्राय एक साथ जाते हुए देखे जाते हैं, पर आगे चलकर उन्होंने अलग-अलग मार्ग पकड लिए हैं। इनमे से कुछ का कहना है कि सस्कृत से क्रमश पाली, प्राकृत (महाराष्ट्री, शौर-सेनी, मागधी आदि) और अपभ्रंश भाषाएँ निकलीं। फिर भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाओं से राजपूतानी, ब्रज और खड़ी हिंदी का उद्भव हुआ। कुछ दूसरे विद्वानों का कथन है कि सस्कृत कभी साधारण जनता के बोलचाल की भाषा नहीं हुई, वह केवल साहित्य की भाषा रही है। साधारण लोग सदा से अपने नित्य के व्यवहार मे प्राकृत का ही उपयोग करते रहे हैं। उनकी मूल या आदि प्राकृत से ही वर्तमान भाषाओं

का क्रमश विकास हुआ है। जो हो, यह सब मानते हैं कि हिंदी शूरसेन-देश (व्रज-मडल) की, अर्थात् शौरसेनी प्राकृत की पुत्री है। प्राकृत के रूपातर अपभ्र श में प्राचीन हिंदी का स्वरूप वर्तमान है।

इस प्राचीन हिंदी का आरभ विक्रम की आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह समय कुछ ऐसे पद्य-ग्रथों के आधार पर अनुमान किया जाता है जिनके नाम मात्र का पता चलता है। लिखित और फिर पद्यात्मक स्वरूप प्राप्त होने के बहुत पहले भाषा को बोलचाल का रूप मिल जाया करता है। जो हिंदी हमें प्राचीनतम ग्रथों मे मिलती है वह उस रूप में तुरत न पहुँच गई होगी। धीरे-धीरे रूपातरित होते होते उसे वह रूप मिला होगा। इससे आठवीं शताब्दी के पूर्व हिंदी भाषा के द्वारा लोग अपने मनोभाव प्रकट करने लग गए होंगे। हिंदी भाषा में सबसे प्राचीन जो ग्रथ मिलते हैं वे सब पद्य मे हैं। इससे यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि पहले लोग नित्य की बातचीत में छद-बद्ध वाक्यों का प्रयोग करते रहे होंगे। ससार की अन्य भाषाओं के प्रारभिक उदाहरण भी हमें पद्य मे मिलते हैं।

इन पद्यात्मक ग्रथो के आधार पर हिंदी का आरभ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, होना कुछ लोग सातवीं शताब्दी में

हिंदी का काल विभाग

और कुछ आठवीं मे मानते हैं। प्रसिद्ध भाषा-तत्त्वज्ञ सर जार्ज ग्रियर्सन हिंदी भाषा के १२०० वर्ष का इतिहास निम्न प्रकार से विभाजित करते हैं —

(१) ७०० ई० से १३०० ई० तक चारण (Bardic) काल

(२) १५४० ई० से १७०० ई० तक महान (Augustine) काल
(३) १७०० ई० से १८०० ई० तक शुष्क (Barren) काल
(४) १८०० ई० से अब तक पुनर्जाग्रति (Renaissance) काल

इसी पुनर्जाग्रति-काल के अंतर्गत गद्य-काल माना गया है। इस काल विभाग मे १३०० से १५४० तक के समय का नामकरण न जाने क्यो नहीं किया गया।

पादरी एडविन ग्रीव्स तथा एफ० ई० के महाशय ने भी अपने-अपने हिंदी साहित्य के इतिहासों मे डाक्टर ग्रियर्सन का अनुसरण किया है। केवल कालो के नाम रखने मे स्वातन्त्र्य प्रदर्शित किया है। इन्होंने इन कालो के नाम भिन्न रखे हैं। किंतु जैसा कह चुके हैं, जिन पुस्तको के आधार पर हिंदी का उक्त आरंभ काल माना जाता है उनके नाम ही सुने जाते हैं। इससे जब तक वे मिल न जायँ और उनकी भाषा की परख न हो जाय तब तक उक्त काल-निर्णय ठीक नहीं जान पडता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' मे पर्याप्त विवेचन के बाद विक्रम की ११ वीं सदी का मध्य हिंदी का आरंभ-काल माना है और इस प्रकार उसे भिन्न-भिन्न युगों में बाँट कर प्रत्येक की अवधि निश्चित की है —

(१) आदि काल (वीर गाथा काल) संवत् १०५०—१३७५ वि०
(२) पूर्व मध्य-काल (भक्ति-काल) संवत् १३७५—१७०० वि०
(३) उत्तर मध्य-काल (रीति काल) संवत् १७००—१९०० वि०
(४) आधुनिक-काल (गद्य काल) संवत् १९००— अब तक

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी इस काल-विभाग को अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में स्वीकार किया है। प० रामशकर शुक्ल ने अपने ग्रथ में जो युगो के नाम दिए हैं तथा उनकी जो अवधि दी है वह उपर्युक्त विवेचन से अधिक युक्तियुक्त नहीं है। ऊपर के कालो के विषय मे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उनका समय ठीक उसी समय से प्रारभ नहीं होता है जिस से उनका आरभ होना लिखा है और वे ठीक उमी समय समाप्त नहीं हो जाते हैं जिस समय उनकी अतिम तिथि लिखी है। वास्तव में साहित्य के किसी काल का आरभ और अत गणित के अको की भाति ठीक-ठीक नहीं लिखा जा सकता। दूसरी बात इस सबध मे यह स्मरण रखने की है कि इन कालों का नामकरण उस समय की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है। यह न समझ लेना चाहिए कि किसी काल विशेष के भीतर केवल एक ही प्रकार की रचनाएँ हुई हैं, और ऐसी रचनाएँ नहीं हुई जो दूसरे काल के अतर्गत हो सकें। उदाहरण के लिए आधुनिक-काल को लीजिए। आजकल केवल गद्य नहीं लिखा जाता वरन् ऐसी भी रचनाएँ होती हैं जो चारण काव्यो तक की श्रेणी मे रखी जा सकती हैं। किंतु आजकल प्रधानता गद्य को है, इसी से इसे गद्य काल कहा गया है।

अब तक हिंदी-पद्य का सर्व प्रथम ग्रथ 'खुमान रासो' माना जाता है। इसका रचना-काल सवत् ९०० के आस-पास अनुमान किया जाता है। यद्यपि अब तक खोज में हिंदी-गद्य का कोई ग्रथ अथवा अवतरण

हिंदी गद्य का आरभ

नहीं मिला, तथापि इसके पहले से बोलचाल में हमारी भाषा का जन्म हो चुका होगा। कारण, यह स्वाभाविक है कि पहले गद्य का जन्म हो और फिर उसे पद्य का रूप मिले। हिंदी-गद्य का पहला उदाहरण हमे तेरहवीं शताब्दी के महाराज पृथ्वीराज और चित्तौर के रावल समरसिंह के दान-पत्रों में मिलता है। इनमें से 'मेवाड की सनद' में से, जो संवत् १२२९ की है, कुछ अंश नीचे दिया जाता है —

स्वस्ति श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज तपे राज श्री श्री रावल जी श्री समरसी वचनातु ग अमा आचारजु ठाकुर रुसीकेष कस्य थाने दली सु ठायजे दाया अर्णीराज में ओषद थारी लेवेगा ओषद ऊपरी माल की थाकी ट थो जनाना मे थारा नमरा टाला श्री दूजा जावेगा नहीं और थारो नठक दली मे हो जी प्रमाणे परधान बरोबर कारण होवेगा।

इस उद्धरण के रेखांकित वाक्य आजकल भी ज्यों के त्यों बोले जाते हैं। इससे तथा कुछ अन्य प्रमाणों से कुछ विद्वान इन पत्रों को जाली मानते हैं।

अगली दो शताब्दियों के गद्य के नमूने उपलब्ध नहीं हैं। पन्द्रहवे शतक के आरंभ (१४०७) में गोरखनाथजी के लिखे हुए 'सिष्ट प्रमाण' नामक गद्य-ग्रंथ का पता चलता है। इस ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ अवतरित की जाती है —

आरंभ काल के गद्य के नमूने

सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौं दै चुकौ अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ अरु देवता सब पूजि चुकौ

अर पितरनि कौ सतुष्ट करि चुकौ स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुको जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो ।

अस्तु, हिंदी गद्यका आरंभ विक्रम की पंद्रहवीं सदी से मानना ठीक जान पडता है।

तदनतर महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५७२-१६४२) रचित 'शृङ्गार रस मडन' नामक गद्य-ग्रथ हमे मिलता है। यह ब्रजभाषा-गद्य का पहला नमूना है। इसका यह अश देखिए —

प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जा इनको प्रेमामृत में डूबि के इनके मद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुञ्ज विषै शृगार रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भइ।

इसके बाद इन विट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी के लिखे तीन ग्रथ—'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ बैष्णवों की वार्ता' और 'वन यात्रा'—बोलचाल की ब्रजभाषा में मिलते हैं। इनका रचना-काल सवत् १६२५ और १६५० के बीच है। इन 'वार्ताओं' मे गोकुलनाथजी ने अपने पिता एव पितामह के शिष्य "वैष्णवों" का हाल लिखा है। यह लोग भिन्न जाति के तथा विभिन्न प्रांतों के रहने वाले थे। इस कारण इनके वर्णनो मे ब्रजभाषा के अतिरिक्त अरबी, फारसी, गुजराती, पजाबी, मारवाड़ी आदि के अनेक शब्दो का प्रयोग हुआ है । यह कथाएँ पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं

लिखी गई । इसीसे इनकी भाषा में बनावटीपन नहीं है । गोकुलनाथजी के सीधेसादे गद्य की बहार देखिए —

जब रात्र एक पहर रही तब श्रीनाथ जी ने वैशाख सुदी चौदस के दिन श्रीगिरधरजी कु आज्ञा करी जो आज गोवर्द्धन पर्वत ऊपर राज-भोग आरोगु गो । जब श्रीगिरिधर जी ने मगला करायके श्रीनाथ जी कु पधराए । और पहेले मनुष्य पठाय के मदिर ग्यासा करायो और श्रीनाथ जी कु पधारते अबार गई ।

इनके पश्चात् अकबर के समकालीन गग भाट की सवत् १६२७ की लिखी हुई 'चद छद बरनन की महिमा' नाम्नी सोलह पृष्ठ की पुस्तक का पता चलता है । उसकी अतिम दो पक्तियाँ यह हैं —

इतना सुन के पातशाहाजो श्रीअकबर-शाहाजो आद सेर सोना नाहरदास चारण को दिया इनके डेढ़ सेर सोना होगया ।

इसके अनतर 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास का 'अष्टयाम' देखने को मिलता है । इसका समय सवत १६५७ के लगभग ठहराया जाता है । इस पुस्तक की बानगी देखिए —

तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरण छुइ प्रनाम करत भए । फिर अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए ।

नाभाजी के बाद लोक-प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास का सवत् १६६९ में लिखा हुआ थोडा सा गद्य, एक पचनामे के आरभ में, मिलता है । उसे भी देख लीजिए—

श्री परमेश्वर

सवत् १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी बार शुभ दीने लिखित पत्र

आनन्दराम तथा कन्हइ के अश वीनाग पुवम जे आग्य दुनहु जने भागा जे आग्य मै प्रमान माना दुनहु जने वीदीत तफमील श्रम टोडरमल के मह जो वीभाग पद हात ।

इसके पश्चात् स० १६७१ की लिखी हुई 'भुवन दीपिका' नामक ज्योतिष ग्रथ की भाषा-टीका मिलती है। इसके लेखक का नाम नहीं मालूम हो सका । इस टीका की दो पक्तियाँ देखिए —

जउ अस्त्री पुत्र तणो प्रश्न करई । आटमइ नउमइ स्थानि एव लो शुक्र होइ तउ प्रताप स्वभाव रमता कहिवउ ।

इस अज्ञात-नामा लेखक के बाद जटमल कवीश्वर की सवत् १६८० में लिखी 'गोरा बादल की कथा' मिलती है। इसमें चित्तौर के इतिहास-प्रसिद्ध रत्नसेन पद्मिनी और युवक-वीर बादल के त्याग का वर्णन है। इसकी भाषा में खडी बोली की पुट पाई जाती है। नीचे इस ग्रथ का नमूना दिया जाता है —

गोरे की आवरत आपने मा वचन सुनकर आपने पावद की पगडी हाथ मे लेकर वाहा सती हुइ सो सिवपुर मे जाके वाहा दोनो मेले हुए। गोरा वादल की कथा गुरु के वस सरस्वती के महरवानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरु कू व सरस्वती कू नमस्कार करता हूं। ये कथा सोल से आसी के साल में फागुन सुदी पुनम के रोज वनाई।

इसी समय के लगभग ओरछा-नरेश जसवतसिंह (१६७५-८४) के आश्रित वैकुंठमणि शुक्ल ने 'वैशाख माहात्म्य' और 'अगहन माहात्म्य' नामक दो पुस्तकें व्रजभाषा-गद्य में लिखीं।

इनकी भाषा में खड़ी बोली का भी समिश्रण है। इसका उदाहरण ,वैशाख महात्म्य' से नीचे दी हुई पंक्तियाँ हैं —

सब देवतन की क्रपा तैं वैकुंठमनि सुकुल श्रीमहारानी श्रीरानी चंद्रावती के धरम पढ़िवे के अरथ यह जथ रूप ग्रन्थ वैसाप महातम भाषा करत भए। एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा में उठि के सुमेर पर्वत को गए।

आगे चलकर संवत् १७०७ के आस पास मनोहरदास निरंजनी कृत कुछ गद्य पुस्तकों का नाम सुना जाता है। इनके गद्य की भी दो एक पंक्तिया देखते चलिए। आप कहते हैं—

ग्रन्थ की आदि इष्ट देवता है ताको रूप दिखावत हे अर ता ग्रन्थ तीनि त्रिघन ता सिधि करिवै कौ हिरदै मांग ताकी स्वरूप तवन करिके नमसकार करतु हे।

इसके आठ वर्ष बाद संवत् १७१५ के आस-पास जगजी चारण के लिखे 'रत्नमहेशदासोन्त वचनिका' हमारे सम्मुख राजपूतानी हिंदी का नमूना उपस्थित करती है। इसकी एक पंक्ति देखिए—

दाली रावा का। भुजेण रासा का। चार जुग रहसी। कर वात कहसी।

इसी राजपूतानी हिंदी का एक स्वरूप (दादूदयाल के शिष्य के शिष्य) दामोदरदास हमारे लिए छोड गए हैं। इन्होंने सं० १७१५ के लगभग 'मार्कंडेय पुराण' का उल्था किया था। इनकी भाषा की सादगी देखिए —

अथ नटन गुरुन्ने कूं नमसकार गोविंद जी कूं नमसकार सरव परकार के मिध साध रिष मुनि जा सरन ही कूं नमसकार अतो तुम सब साध ऐसी बुधि देउ जा बुधि करिया ग्रथ की वारतिक भाषा अरथ रचना करिए।

आगे चलकर जोधपुर नरेश यशवंतसिंह के पुत्र अमरसिंह (वि० १७३७—१७८१) का गद्य और पद्य मिश्रित 'गुणसार' नामक ग्रंथ हमें मिलता है। इसमें राजा सुमति और रानी सत्य रूपा का वृत्तांत है। भाषा इसकी मारवाड़ी है, लेकिन उसमें खड़ी बोली भी दिखाई पड़ती है। इसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है —

पाछे कहियो छि पिता जी राजग आसिर्वचना सुण्टे आ पन्छी पाया जो विमान बैठा वैकुंठ जावा छा। सो इस भाँति परस्पर वार्ता कर राजी होयने।

इसी जमाने में 'विहारी सतसई' की ब्रजभाषा गद्य में 'अमर चंद्रिका' नाम्नी एक टीका लिखी गई थी। इसके लेखक अमरसिंह कायस्थ (१७९३—१८४०) थे। यह छत्रपुर रियासत के रहने वाले थे। इस चंद्रिका की पहली किरण देखिए—

प्रथम मंगलाचरन—यह कवि की विनती जान प्रगटत अपनी अधमता अधिकाई धुनि थान जितो अधम तितनी बड़ो भवबाधा यह अर्थ तिहि हरबे को चाहिये। कोऊ बड़ी समथ नर बाधा कै सुई हरत सुरबाधा ब्रह्मादि ब्रह्मादिक की बाधा कों हरत जु स्याम लखि अगाध राधा

तन स्याम की बाधा रहत ना कोई याते मो बाधा हरो।*

ब्रजभाषा-गद्य का एक और नमूना अग्रनारायण दास के सं० १८२९ में लिखित 'भक्तमाल प्रसग' में मिलता है। इसके कुछ वाक्य नीचे लिखे जाते हैं—

तब श्रीकृष्ण अघोरबसी बजाई ब्रज गोपिकानि सुनि राधिका ललिता विशाखादि गोपी आई रासमडल रच्यो रागरग नृत्य गान आलाप आलिगन सभासन भयो।

इस बीच १८२८ के लगभग बख्तेश ने मतिराम के 'रसराज' का तिलक किया। इसकी भाषा पडिताऊ हिंदी का उदाहरण है। देखिए—

नाइका नाइक जो है ताको आलबित कहे आधार शृगार रस होत है कौन प्रकार क आधार कहे टोप कै ताते कवि कहत है के नाइका नाइक कौ बरनन करत हो अपनी बुद्धि के अनुसार तें ग्रथ को नाम रसराज है सो रस नाइका नाइक के आधीन होत है।

ऊपर दिए हुए गद्य के अवतरणों के अतिरिक्त भी कुछ फुटकल पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न समय के लेखकों की मिलती हैं, किंतु कोई समूचा ग्रथ उपलब्ध नहीं। इससे उन लेखकों के गद्य का पूरा रूप नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार हम

---

* मूल—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाँई परे स्याम हरित दुति होय॥

देखते हैं कि विक्रम की पंद्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक हिंदी गद्य की सरिता अनेक धाराओं—ब्रज, राजपूतानी, खड़ी आदि—में होकर बहती आई। इस युग में गोस्वामी गोकुलनाथ की 'वार्ताओं' के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला। इससे यह न समझना चाहिए कि गद्य में लोग लिखा नहीं करते थे। पद्य की ओर उस समय जनता का रुझान अधिक था किंतु लोगों की मनोवृत्ति गद्य की ओर आकर्षित हो चली थी।

आधुनिक गद्य के प्रारंभिक लेखक

इन्हीं दिनों अँगरेजों का प्रभुत्व उत्तरी भारत में स्थापित हो चुका था। इन को देशी भाषाएँ सीखने के लिए बोलचाल की भाषा में पुस्तकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। कुछ लोगों की धारणा है कि तत्कालीन अँगरेज अधिकारियों के प्रोत्साहन से ही हिंदी-गद्य का सूत्रपात हुआ है। यह विचार भ्रम-पूर्ण है। उस समय के दो ऐसे लेखकों का पता चलता है जिन्होंने किसी के कहे सुने बिना हिंदी-गद्य में अपने मनोभाव व्यक्त किए थे। इनमें से पहले मुंशी सदासुखलाल (सं० १८०३—१८८१) थे। यह फारसी, अरबी संस्कृत, हिंदी और उर्दू के अच्छे जानकार थे। उर्दू में इनका तखल्लुस 'नियाज' था और हिंदी में यह 'सुखसागर' उपनाम का प्रयोग करते थे। उर्दू-पद्य में इन्होंने भागवत, रामायण, प्रबोध-चंद्रोदय आदि का अनुवाद किया। हिंदी में विष्णुपुराण

मुंशी सदासुखलाल

विलियम कॉलेज में नौकर हुए। उसके अध्यक्ष जान गिल-क्रिस्ट के कहने पर लल्लूलाल जी ने नवागन्तुक अंग्रेज कर्मचारियों लल्लूलाल के लिए गद्य में 'प्रेम सागर' लिखा। इसमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की श्रीकृष्ण-कथा है। यद्यपि 'प्रेमसागर' में प्रधानता खड़ी बोली की है, तथापि उसमें लेखक की मातृ भाषा (ब्रज) का पर्याप्त पुट है। उसमें क्रियाओं के रूप वैसे हैं जैसे अब भी भागवती पंडित बोला करते हैं। 'प्रेमसागर' की भाषा में उर्दू के शब्द प्रायः नहीं आए। 'रानी केतकी की कहानी' की भाँति इसमें भी यत्र-तत्र तुकबंदियाँ आगई हैं। उस समय तक गद्य पद्य से नितांत मुक्त नहीं हो सकता था। प्रेमसागर की भाषा साफ-सुथरी है, पर उसमें कहीं लंबे लंबे वाक्य आ गए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैताल पचीसी' 'शकुंतला नाटक' और 'माधोनल' नामक चार पुस्तकें और लिखी थीं। इन सबमें उर्दू का प्राबल्य है। यहाँ आपकी हिंदी का नमूना 'प्रेमसागर' से दिया जाता है —

श्री शुकदेव जी बोले—महाराज, सबकी रक्षा कर श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ में गेंदतडी खेलने लगे, और जहाँ काली था तहाँ चार कोस तक जमुना का जल विसके विष से खौलता था, कोई पशुपक्षी वहा न जा सकता, जो भूलकर जाता सो लपट से झुलस दह में गिर पचता, और तीर में कोई रूख न उपजता। एक अविनाशी कदम तट पर था, सोई था।

जिन दिनों लल्लूलालजी फोर्ट विलियम कालेज की नौकरी करते हुए 'प्रेम सागर' की रचना कर रहे थे उन्हीं दिनो आरा (बिहार) के निवासी प० सदल मिश्र (लगभग १८२४—१९०५) भी गिलक्रिस्ट साहब के ही आदेश से पौराणिक 'नासिकेतोपाख्यान' लिख रहे थे। लेकिन मिश्रजी की भाषा 'प्रेमसागर' से भिन्न है। वह न तो व्रजभाषा से ओत-प्रोत है और न तुक मिलाने वाले पद्य-मय गद्य ही से। वह व्यवहार मे आने वाली खडी बोली है। पर उसमें कहीं कहीं पर व्रज और पूरवी हिंदी की झलक आ जाती है। सदल मिश्र की भाषा में मुहावरों और उर्दू के कुछ शब्दो के प्रयोग से जान आ गई है, किंतु वह मँजी न थी। इनकी भाषा का आभास इस अवतरण से मिल जायगा—

सदल मिश्र

किसी समय मे ब्रह्मा के पुत्र ऐसे उद्दालक मुनि भए कि जिनके दर्शन से लोग पवित्र होते थे। वेद पुराण श्रुति स्मृति में बहुत निपुण और दाता दयालु कहिए तो वैसे ही, बड़े समथ, सब मुनियों में श्रेष्ठ, कि जिनका तपस्या ही धन था, उनके सुहावने आश्रम पर कि जिसको बडे बडे मुनि लोग नित्य आय सेवैं और जहाँ नाना प्रकार के वृक्षों पर लता छा रही थीं—पिप्पलाद मुनि आन पहुँचे।

उपर्युक्त चार लेखकों मे सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा बहुत कुछ मिलती जुलती है। उसमें आज कल के गद्य का आभास मिलता है। इशा और लल्लूलाल की भाषा को वर्तमान गद्य का प्रथम रूप कहने मे सकोच होता है। लल्लूलाल की

भाषा तो हमें विट्ठलनाथ एवं गोकुलनाथ की ब्रजभाषा-सरिता का, मुहाने की ओर बढ़ता हुआ, स्वरूप प्रतीत होती है। अत मुंशी सदासुख को, कालक्रम मे प्रथम होने से, वर्तमान हिंदी गद्य का प्रथम लेखक मानना समीचीन है।

इस समय, स० १८६० के आसपास, हिंदी गद्य-धारा की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अगले प्राय ६० वर्ष तक उसका प्रवाह रुका सा रहा। कारण, इसी बीच मैकाले की शिक्षा-योजना के अनुसार अँगरेजी शिक्षा का प्रचार आरभ हो गया था। इससे देशी भाषाओं को धक्का पहुँचा। लेकिन इस काल में भी ईसाई धर्म-प्रचारकों (मिशनरियो) ने अपने धर्म को इस देश में फैलाने के अभिप्राय से हिंदी का आश्रय लिया। उन्होंने अपने पूरे धर्म-ग्रंथ, बाइबिल, का अनुवाद ऐसी हिंदी में करवाया जिसे साधारण देहाती जनता भी अच्छी तरह समझ सके। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग इन अनुवादो मे बेधड़क हुआ। आगे चलकर इन लोगों ने कलकत्ता, मिर्जापुर आदि स्थानो मे प्रेस खोलकर अपनी धर्म-पुस्तकों के अतिरिक्त लड़कों के पढने के लिए भी कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। अपने धर्म का हमारे बीच प्रसार करने के लिए तो अँगरेजो ने हमारी भाषा का आश्रय लिया, किंतु राजनीतिक दाव-पेंच से उन्होंने अदालतो और सरकारी दफ्तरों मे उर्दू और फारसी लिपि को प्रोत्साहित किया। परिणाम यह हुआ कि हिंदी बोलचाल की भाषा रहते हुए भी उसके साहित्यिक भाषा बनने मे रुकावट पड गई। इस भाषा-सबधी

पक्षपात के फल स्वरूप उर्दू की उन्नति हिंदी से पहले आरंभ हो गई। संवत् १८९० में उर्दू का पहला समाचार पत्र दिल्ली से निकला। इस स्थिति में भी हिंदी के समर्थक अपनी भाषा की रक्षा में तत्पर दिखाई पड़ते हैं। राजा शिवप्रसाद ने सं० १९०२ में 'बनारस अखबार' निकाला। इसकी भाषा उर्दू थी—क्योंकि उस समय के समाचार-पत्रों के पाठक अधिकतर उर्दू जानने वाले ही होते थे—किंतु वह लिखी देवनागराक्षरों में जाती थी। बीच बीच में उसमें हिंदी के शब्द भी होते थे, किंतु उतने नहीं, जितने आजकल पंजाब के आर्य समाजी उर्दू पत्रों में होते हैं। उसकी भाषा की एक झलक देखते चलिए—

यहां जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशाना तैयार हर चेहार तरफ से होगया बल्कि इसके नक्शे का बयान पहिले मुन्ज है सो परमेश्वर की दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही मुस्तेदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।

चार-पांच वर्ष बाद काशी से 'सुधारक' निकाला गया। एक बंगाली सज्जन इसके संपादक थे। इसकी भाषा 'बनारस अखबार' से सुधरी हुई होती थी। इन्हीं दिनों सं० १९०९ में आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' निकला। इसके संपादक मुंशी सदासुखलाल थे। इसकी भाषा की भी बानगी देख लेना चाहिए—

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्ता ने उत्पन्न

किए है, केवल विद्या की न्यूनता है जो यह भी हो तो स्त्रिया अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं, और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरो से नहा।

इतिहास प्रसिद्ध सवत् १९१४ के राज्यविप्लव के एक साल पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग मे राजा शिवप्रसाद इसपेक्टर हुए। वह हिंदी को पुनर्जीवित करने मे लगे। उन्होंने बालको के पढने के लिए स्वय पुस्तकें लिखीं और दूसरों से भी लिखवाईं। प० वशीधर ने राजा साहब के कहने से 'भारतवर्षीय इतिहास', 'जीविका परिपाटी' और 'जगत वृत्तात' नामक पुस्तकें लिखीं। राजा साहब पहले सरल हिंदी के समर्थक थे। वे कहते थे कि 'जहा तक बन पडे हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न सस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए।' राजा साहब यद्यपि 'आम फहम व खास पसद' भाषा लिखने की ताईद करते हैं तथापि आगे चलकर उन्होंने अपने 'इतिहास तिमिर नाशक' आदि अन्य ग्रथ ऐसी भाषा में लिखे हैं जिसे हिंदी कहने मे हिचकिचाहट होती है। राजा साहब की भाषा का अनुमान इस अवतरण से किया जा सकता है—

मुसलमान घमड के मारे अपनी रअय्यत की ज़बान में बात चीत करना बेशक शर्मिन्दगी और बे इज्जती का कारण समझते होंगे, लेकिन उनके महल हिंदुओं की लडकियों से भरे थे। और उन्हें रात दिन काम ऐसे हिंदुओं से पड़ा करता था जो फ़ारसी से कम वाक़िफ़ थे। यह घमड धीरे धीरे कम हो गया।

इन्हीं दिनों, आगे चलकर आर्य-समाज के संस्थापक, स्वामी दयानंद (स० १८८१-१९४०) का प्रादुर्भाव हुआ। संस्कृत के प्रकांड पंडित और गुजराती होने पर भी स्वामीजी ने अपने धर्म को लोक-व्यापी बनाने के विचार से हिंदी का आश्रय लिया। वे बहुत अच्छे वक्ता और लेखक थे। उन्होंने वाणी और लेखनी दोनों से हिंदी के उद्धार और प्रचार में प्रशंसनीय योग दिया। आर्य-समाजियों के लिए 'आर्यभाषा' का जानना इन्होंने अनिवार्य कर दिया। पंजाब में स्वामीजी का अत्यंत प्रभाव था। उस उर्दू के अड्डे में हिंदी की वैजयंती फहराकर स्वामी दयानंद ने बहुत बड़ा काम किया। स्वामीजी ने वेदों के भाष्य, नित्यकर्म के ग्रंथादि के अतिरिक्त अपने मुख्य ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिंदी में ही लिखा। इनकी भाषा में स्वभावतया कुछ गुजराती की झलक देख पड़ती है। फिर भी स्वामीजी की हिंदी प्रायः विदेशी शब्दों से रहित है। स्वामीजी की हिंदी नीचे के पत्र में देखिए। यह उन्होंने उपर्युक्त राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद को लिखा था—

स्वामी दयानंद सरस्वती

आपका पत्र मेरे पास आया, देखकर अभिप्राय जान लिया। इससे मुझको निश्चय हुआ कि आपने वेदों से लेकर पूर्व मीमांसा पर्यंत विद्या-पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ संबंधों को जाना नहीं है। इसलिए आपको मेरी बनायी भूमिका का अर्थ भी ठीक ठीक विदित न हुआ।

जिन दिनों उपरि-उल्लिखित राजा शिवप्रसाद जनता की

अस्वाभाविक भाषा को जबरदस्ती 'आम फ़हम' की जबान कह रहे थे उन्हीं दिनो आगरे में एक दूसरे सरकारी पदाधिकारी वास्तविक हिंदी का चित्र अंकित कर रहे थे। राजा लक्ष्मणसिंह (म० १८८३—१९५३) ने पहले १९१८ में 'प्रजा-हितैषी' पत्र निकाला। फिर कालिदास के जगद्विख्यात 'अभिज्ञान शाकुंतल' का, १९१९ मे गद्यानुवाद किया। आगे चलकर श्लोकों को पद्यमे अनूदित कर गद्य-पद्य मयी मनोहर रचना प्रस्तुत की। कुछ दिनो के अनतर आपने 'रघुवश' का भी भाषांतर किया। इनका गद्य शुद्ध खड़ी बोली मे होता था। उसके वाक्यो की गठन प्रौढ और उत्तम होती थी। उसमे उर्दू शब्दों का पूर्ण वहिष्कार सा है। राजा साहब के गद्य में हमें आधुनिक गद्य की झलक दिखाई पडती है। यह इस प्रकार का गद्य लिखा करते थे—

याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परतु जो राजा अपने अत करण से प्रजा का निर्धार करता है, नित्य चिता ही में रहता है। पहले तो राज्य बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है, फिर जो देश जीतकर वश किये जाते है उनकी प्रजा के प्रति-पालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है।

ऊपर जिन चार-पाच आधुनिक हिंदी गद्य के प्रारभ करने वाले सज्जनो का नाम दिया जा चुका है उनके अवतरणो को भारतेंदु का उदय देखने से पता लग गया होगा कि उन सबकी शैली और भाषा में भिन्नता थी। कोई खडी-बोली में पडिताऊपन का

पुट रखता था, कोई ब्रज-भाषा की कोमल-कांत पदावली का सौंदर्य दिखलाता था, कोई पूर्वी-भाषा के प्रभाव से मुक्त न था, कोई हिंदी का हिमायती होते हुए भी उसे उर्दू बीबी के लिबास से सजाता था और कोई बहुत सभालने पर भी अपनी खडी-बोली में ब्रजभाषा की झलक लाने से नहीं बच सकता था। अब हमारे इतिहास में सवत् १९१४ के राज्य-विप्लव के पश्चात् का समय आ गया था। अगरेजी राज्य की नींव भारत में दृढ हो गई थी। वृटिश शासक अपने राज्य को प्रत्येक दिशा में सगठित कर रहे थे। जनता मे भी इन दिनो राष्ट्रीय भावना जागृत हो चुकी थी। राजनीतिक स्वार्थ वश सरकार तथा अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जनता देशी भाषाओं के उद्धार करने मे प्रवृत्त हुई। इस समय यह आवश्यकता थी कि हिंदी गद्य का एक ऐसा रूप निश्चित हो जाय जिसमे पढे-लिखे लोग अपने मनोभाव व्यक्त करें। यह काम किसी साधारण लेखक के बूते का न था। सौभाग्य से इसी समय, काशी में, हरिश्चद्र (सवत् १९०७—१९४१) का आविर्भाव हुआ। इनके पिता बाबू गोपालचद्र ब्रज-भाषा के सुकवि और नाटककार थे। इनके ससर्ग से हरिश्चद्र की रुचि बाल्यावस्था मे ही साहित्य की ओर झुक गई। यो तो नौ वर्ष की अवस्था से ही यह कविता करने लगे थे, पर सोलह वर्ष के होने पर इनकी भाषा मे ओज, प्रसाद और माधुर्य की पर्याप्त मात्रा रहने लगी। इन्होंने कई क्षेत्रो में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित

की। सवत् १९२५ मे इन्होंने बँगला मे अनुवाद करके 'विद्यासुदर नाटक' प्रकाशित किया। इसमें इनके परिमार्जित गद्य का दर्शन हुआ। फिर 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चद्र मैगजीन' (जो कुछ दिन बाद 'हरिश्चद्र चद्रिका' हो गया) आदि मासिक पत्र निकाले। १९३० मे उनकाप्रथम मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मुद्रित हुआ। फिर धीरे-धीरे 'कर्पूर मजरी', 'सत्य हरिश्चद्र', 'भारत दुर्दशा', 'अधेर नगरी', 'नील देवी' 'चद्रावली', इत्यादि नाटक-नाटिका लिखे गए। इन नाटकों मे व्रजभाषा की सरल कविता और खडी बोली का सुसवद्ध गद्य लिखने के अतिरिक्त हरिश्चद्र ने हिंदी में इतिहास लिखना प्रारभ किया। 'काश्मीर-कुसुम', 'बादशाह दर्पण' आदि कुछ थोडे से इतिहास ग्रथ लिख पाये ही थे कि अकाल ही काल-राहु ने भारतेंदु को ग्रस लिया। अपने ३४ वर्ष के जीवन एव १८ वर्ष के साहित्यिक जीवन मे हरिश्चद्र ने हिंदी के लिए वह काम किया जो सैकडो वर्ष जीने पर भी अधिकाश लोग नहीं कर पाते। उन्होंने वर्तमान हिंदी गद्य की धाराओं को कई दिशाओ में बहने देने से रोक कर एक राज-मार्ग में लगा दिया। इसीलिए लोग भावावेश मे उनको आधुनिक हिंदी गद्य का पिता तक कह डालते हैं। इन महापुरुष की भाषा साफ-सुथरी, मँजी हुई, ग्रामीणता से रहित और प्रभावशालिनी होती थी। इनकी भाषा में दो प्रकार की शैलियाँ दिखलाई पडती हैं। एक को हम विक्षिप्त या प्रलाप शैली कह सकते हैं। इसमे भाषा जोरदार

है, वाक्य छोटे-छोटे हैं, बोल-चाल के शब्द प्रयुक्त हुए है, एकाध स्थान पर तो उर्दू के प्रचलित शब्द आगए हैं और कहीं-कहीं शब्दो की पुनरुक्ति हो गई है। यह हृदय के मार्मिक भाव अंकित करने के लिए लिखी गई है। 'चद्रावली नाटिका' की भाषा इस शैली का उदाहरण है। दूसरी शैली सिद्धात निरूपण-सबधी ग्रथो में दिखाई पडती है। इसमे भाषा सयत, विचार-पूर्ण और गभीर है। इस शैली में कहीं कही पर सस्कृत शब्दो का अधिक प्रयोग किया गया है। 'प्रेम योगिनी' और 'नील देवी' में इनकी यह शैली देखी जा सकती है।

हरिश्चद्र स्वय तो हिंदी के परम पोषक थे ही उनके प्रभाव से उनके चारो ओर बहुत से अच्छे लेखको की मडली तैयार हो गई थी। इस समय कई सुदर पत्र भी निकलने लगे थे इनमें से उल्लेखनीय 'बिहार बधु' 'भारत बधु' 'हिन्दी प्रदीप' भारतेंदु के समकालीन 'आनद कादबिनी' 'पीयूष प्रवाह' 'ब्राह्मण' अन्य लेखक 'भारतजीवन' और (कुछ आगे चलकर) 'भारतेंदु' हैं। तत्कालीन लेखकों में कुछ ये थे—बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप-नारायण मिश्र, तोताराम बी ए, जगमोहन सिंह, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट और राधाचरण गोस्वामी। इन्होंने पद्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, निबध आदि भी लिखे। इनमें पडित बालकृष्ण भट्ट (स १९०१-१९७१) गद्य में भारतेंदु-शैली के बालकृष्ण भट्ट समर्थक थे। उनकी भाषा में यत्र-तत्र बैसवाडी और पूर्वी हिंदी के शब्द आए हैं। अपने भावों को व्यक्त करने

क लिए यह कही-कहीं अगरेजी शब्दो का वेधडक प्रयोग करते थे। मुहावरों मे इनकी विशेष रुचि थी। इनकी भाषा मे हास्य की मात्रा भी पर्याप्त होती थी। उन्होंने सवत १९३४ में 'हिंदी प्रदीप' (मासिक पत्र) निकाला। उसमें सामाजिक, राजनीतिक एव साधारण जीवन सवधी विषयो पर अनेक लेख लिखे। भट्टजी ने 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक दो छोटे छोटे उपन्यास भी लिखे थे। इनके लेखों के शीर्षक वडे आकर्षक हुआ करते थे।

अलीगढ के वकील बाबू तोताराम ने (स० १९०४ १९५९) भारतेंदु के साथ हिंदी का पक्ष बडे जोर से लिया था। तोताराम, बी ए 'भारतबधु' पत्र निकालने वाले यही थे। 'हरिश्चद्र चद्रिका' में लिखते हुए आपने कई नाटक लिखे थे। उनमे 'कीर्तिकेतु' स्वतत्र और 'केटो कृतात' अनूदित हैं। इनके गद्य मे ब्रजभाषा के एकाध शब्द आ जाते थे। 'कीर्तिकेतु' की कुछ अवलियों का गद्य देखिए—

मेरे पिता ने आज इस स्थान मे एक छोटी सी सभा इकट्ठी की है, इसमें वे सब महाशय विद्यमान हैं जो फाल्गुनी नगरी में घोर युद्ध से शेष बचे थे। हमारे पिता की इस सभा से यह अनुमति लेने का विचार ह कि उस प्रबल शत्रु सिसुमार का, जो रामावतीपुरी को रक्षक ग्राम देवताओं समेत नष्ट करता चला आता है, सामना करना उचित है वा निदान सब उसको छोडकर बैठ जाते है।

इसी युग में मारवाडी वैश्य लाला श्रीनिवासदास

(स० १९०८-१९४४) व्यापारिक कार्यों से समय निकालकर श्रीनिवासदास अपने साहित्य प्रेम का परिचय दिया करते थे। इन्होंने 'रणधीर-प्रेममोहिनी' 'सयोगिता-स्वयवर' और 'तप्तावरण' नाटक और 'परीक्षा गुरु' उपन्यास लिखे थे। इनकी रचनाओं में सासारिक अनुभव की बातों का विशद विवेचन है। इन्होंने मुहावरों का प्रयोग दिल खोलकर किया है। इनकी भाषा मे प्रौढता है। उसमे उर्दू शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन्होंने अँगरेजी शैली का अनुसरण करके वक्ता के कथित वाक्यों के अत मे 'अमुक ने कहा' 'वह बोले' के-से प्रयोग किए हैं। हिंदी मे इस शैली का अनुसरण अब भी वियोगीहरि, उग्र आदि किया करते हैं। इसका उदाहरण देखिए—

"आपके कहने मूजिब किसी आदमी की बातो से उसका स्वभाव नहीं जाना जाता, फिर उसका स्वभाव पहचानने के लिये क्या उपाय करें ?" लाला मदनमोहन ने तर्क की।

"उपाय की करने की कुछ ज़रूरत नहीं है, समय पाकर सब भेद अपने आप खुल जाता हे" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे। "मनुष्य के मन म ईश्वर ने अनेक प्रकार की वृत्तिया उत्पन्न की है, जिनमें परोपकार की इच्छा, भक्ति और न्यायपरता धर्म प्रवृत्ति मे गिनी जाती है।"

इन लोगों से भिन्न लेखन शैली के प्रतिपादक मिर्जापुरी 'प्रेमघन' जी (स० १९१२-१९८०) थे। कवि होने से इन्हें सानुप्रास बदरीनारायण और अनूठी पदावली पूर्ण भाषा मे अत्यत प्रेम था। चौधरी 'प्रेमघन' इस कारण कहीं-कहीं इनके वाक्य बहुत लबे

गद्य-प्रबध भी 'आनंद-कादंबिनी', 'ब्राह्मण' 'हिंदी प्रदीप' इत्यादि पत्रों में बहुत निकलते थे।

इस प्रकार हिंदी-सरिता की धारा बहुत चौडी हुई दिखाई पडती है। हर क्षेत्र को सींचने के लिए उसकी धाराएँ फूट नवयुग का आरंभ निकलीं। किंतु अब भी भाषा के गठन की दृष्टि से उसमे कुछ सुधार होने की आवश्यकता थी। भारतेंदु के प्रभाव से अधिकाश पढे-लिखे लोगों में हिंदी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया था। उनमे से कुछ उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोगों ने हिंदी मे लिखना भी आरभ कर दिया था। परतु उनमें से कुछ की भाषा पूर्णतया निर्दोष नही कही जा सकती। वे यह नहीं समझते थे कि हिंदी के लिए भी व्याकरण के नियमो का पालन आवश्यक था। इस बात की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करनेवाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (जन्म स० १९२१) हैं। द्विवेदी जी पहले रेल के दफ्तर मे नौकरी करते हुए साहित्य सेवा करते थे, फिर उसे छोडकर पूर्णरूप से साहित्य सेवी बन गए। उन्होंने १९०३ में 'सरस्वती' का सपादन कार्य ग्रहण किया। 'सरस्वती' मे व्याकरण के नियमों की अवहेलना करनेवालों की कृतियों की बडी कडी आलोचना करके द्विवेदीजी ने लेखकों के कान खडे किए। इसी बीच विभक्तियों को शब्द से सटाकर अथवा हटाकर लिखने पर बडी चखचख उठ खडी हुई थी। यह समस्या अब तक हल नही हुई। हिंदी गद्य का प्रारभिक रूप परिमार्जित करके उसे साधु-भाषा का रूप देने का जिस

प्रकार भारतेंदु हरिश्चद्र ने स्तुत्य काम किया है उसी प्रकार उनके पश्चात आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी 'सरस्वती' के द्वारा उसको सजाया और सैकडों अन्य लेखको को इस कार्य के योग्य बनाया। अब हिंदी लेखकों की सख्या की वृद्धि के साथ उनके लेख्य विषयों की सीमा भी अधिक विस्तृत हुई और कई प्रकार की लेखन-शैलिया भी दृग्गोचर होने लगी। विषय-विस्तार के कारण हमारी भाषा की भावाभिव्यजन-शक्ति बढी। अगरेजी, बगला आदि की देखा-देखी भाषा की ऊपरी सफाई और सजावट के लिए विराम चिन्हों का प्रयोग होने लगा। मुद्रण-यन्त्रों की उन्नति ने भी हिंदी की बाहरी वेष-भूषा को सुसज्जित करने मे बहुत योग दिया।

कहा जा चुका है कि अब हिंदी का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चला। नाटक, उपन्यास, निबध, समालोचना इत्यादि के अतिरिक्त इतिहास, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, पुरातत्व, भ्रमण, जीवन चरित्र, शिक्षा आदि अनेक विषयो पर सु दर रचनाएँ होने लगीं। इन रचनाओं में मौलिक, अन्य भाषाओं से अनूदित एव उनके आधार पर लिखित सभी प्रकार की पुस्तको का समावेश है। इन भिन्न-भिन्न विभागो की अद्यावधि उन्नति तथा प्रगति दिखाने के लिये हम हरेक पर अलग-अलग विचार करेंगे।

सबसे पहले नाटक को लीजिए। कहा जाता है हिंदी का सब से प्रथम नाटक भारतेंदु के पिता गोपालचद्र का 'नहुपनाटक' है।

यह ब्रजभाषा में है। इसके बाद राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुंतला का नाटक अनुवाद निकला। फिर भारतेंदु हरिश्चंद्र मौलिक तथा अनूदित नाटकों की रचना करके हिंदी के वास्तविक सर्व प्रथम नाटककार हुए। यही हिंदी नाटकों के जनक हैं। फिर इनके समकालीन श्रीनिवास दास के रणधीर प्रेम मोहिनी, केशवराम भट्ट के सज्जाद सबुल, बदरीनारायण चौधरी के भारत सौभाग्य का अवतार हुआ। तोताराम जी, बालकृष्ण भट्ट अथवा अम्बिकादत्त व्यास कृत नाटक आकार में बड़े होने से अभिनय के योग्य न हुए। राधाकृष्ण दास, प्रतापनारायण, राधाचरण गोस्वामी के किए हुए अनुवादों का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। काशी के बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बँगला से 'वीरनारी', 'पद्मावती', 'कृष्णकुमारी' आदि कई नाटकों के अनुवाद किए। आगे चलकर तिलिस्माती उपन्यास लेखक बा० गोपालराम गहमरी ने संवत् १९५७ के पूर्व विद्याविनोद, देशदशा, बभ्रुवाहन तथा चित्रागदा बँगला से हिंदी को भेंट किया। पुरोहित गोपीनाथ एम ए, ने शेक्सपियर के कुछ नाटकों के अनुवाद किए। इसके पहले ही अवधवासी (अब राय बहादुर) लाला सीताराम (भूपकवि) बी ए ने संस्कृत के नाटकों का अनुवाद करना आरंभ कर दिया था। संवत् १९४० में उनका 'हिंदी मेघदूत' छपा। तदनंतर उन्होंने धीरे-धीरे नागानंद, मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तर राम चरित, मालती माधव और मालविकाग्निमित्र भी अनूदित किए। पद्यों के अनुवाद में लालाजी विशेष

सफल नहीं हुए । इन्हीं लालाजी ने शेक्सपियर के बहुत से नाटकों का भी हिंदी में अनुवाद किया । इन अनुवादों के गद्य भाग बहुत सरल हिंदी में हैं। सवत् १९७० में आगरा-निवासी कविरत्न सत्यनारायण ने भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' का और कुछ दिन बाद उन्हीं के 'मालती-माधव' का अत्यत सु दर अनुवाद किया। इनके पद्यानुवाद बहुत सरस हैं। गद्य-भाग भी कविरत्नजी ने अच्छी तरह अनूदित किया है। इसी बीच कानपुरी रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'चद्रकला-भानकुमार' नामक मौलिक नाटक लिखा। यह नाटक अभिनय के योग्य नही है । किंतु इसमें साहित्यिक दृष्टि से उत्तम कथोपकथन और मनोरम पद्य हैं । रूपनारायण पाडेय, नाथूराम प्रेमी आदि ने गिरीशघोष, बकिमचद्र चटर्जी, तथा द्विजेंद्रलाल राय के कई प्रसिद्ध बगला नाटको के अनुवाद किए। इसी प्रसग मे रगमचों पर खेलने के निमित्त लिखने वाले नाटककारों का स्मरण करते चलना चाहिए । व्याकुल भारत नाट्य समिति के सचालक स्वर्गीय विश्वभरनाथजी 'व्याकुल' के नाटकों ने मौलिक हिंदी के जोरदार नाटकों की थोडे दिन तक धूम मचा दी थी। उनका गौतम बुद्ध एक उच्चकोटि का अभिनय-योग्य नाटक है। सवत् १९६९ में पडित नारायणप्रसाद 'बेताब' ने 'महाभारत' लिखा । इसे पारसी अलफ्रेड थियेट्रिकल कपनी ने खेला। कदाचित यही पहला हिंदी नाटक है जिसे व्यवसायी कपनियों ने जनता को

खेलकर दिखाया। कुछ दिन इसकी बडी धूम रही। इसके बाद बेताब जी ने रामायण, पत्नी प्रताप, कृष्ण-सुदामा, गणेश-जन्म आदि पौराणिक नाटक लिखे। आगा हश्र का भक्त सूरदास भी उल्लेख्य है। रगमच पर इसे भी बडी सफलता मिली। प० राधेश्याम कथा-वाचक ने व्यवसायी कपनियों के लिए कई नाटक लिखकर धन और प्रसिद्धि प्राप्त की है। इनके नाटकों में वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, श्री कृष्ण-अवतार, तथा रुक्मिणी-मगल विशेष प्रसिद्ध हैं। हरिकृष्ण जौहर ने पति-भक्ति नामक बहुत सफल सामाजिक नाटक लिखा। प० तुलसीदत्त 'शैदा' के भी कई नाटक खेले जाते है। इनका 'कृष्णचरित' अच्छा है। इन लोगों ने पारसी रगमच पर उर्दू के स्थान पर हिंदी को आसीन कर प्रशसनीय कार्य किया। प० माधव शुक्ल ने यद्यपि व्यवसायी लोगों के खेलनेके लिए नाटक नही लिखे, परन्तु उनके महाभारत' ने अपने समय में लोगो का पर्याप्त मनोरजन किया था।

आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कहे जाने वाले बा० जयशकर प्रसाद ने कई सु दर मौलिक नाटक लिखे हैं। कामना, जनमेजय का नाग यज्ञ, विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु स्कद-गुप्त तथा चद्रगुप्त, इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। प्राचीन भारत की सभ्यता और सस्कृति का ओजस्वी कविता मय भाषा में प्रदर्शन करके प्रसाद जी ने अभिनदनीय कार्य किया है। इतिहास और कल्पना के योग से प्रस्तुत इन नाटकों में श्रव्यकाव्य के

लक्षण तो हैं, पर अभिनय के योग्य न होने से इन्हें दृश्य काव्य कहलाने का गौरव नही मिल सका। प० बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' और प० गोविंद वल्लभ पत की 'वरमाला' दो अभिनय के योग्य मौलिक रचनाएँ भी थोडे दिन हुए हमारे सामने आई हैं। प० माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीवियोगी हरि, उग्र, आनदिप्रसाद श्रीवास्तव, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचद आदि ने भी दो-एक नाटक लिखे हैं। इन लोगों के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी इस ओर ध्यान दिया है। नाटको के साथ नाट्यशास्त्र पर ग्रथो का लिखा जाना अनिवार्य सा है। आचार्य द्विवेदी जी के छोटे से किंतु आरभिक 'नाट्यशास्त्र' नामक निबध के अनतर अध्यापक श्यामसुदरदास का 'रूपक रहस्य' इस विषय का उत्तम लक्षण ग्रथ है। आशा है कि निकट भविष्य में हिंदी मे शेक्सपियर, डी एल राय या गिरीश घोष जैसे नाटककार उत्पन्न होंगे।

भारतेंदु के बाद से लेकर अबतक जितनी रचना—मौलिक एव अनूदित—उपन्यासो की हुई है, उतनी और किसी विषय के ग्रथो की नही। ला० श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' का उल्लेख हो चुका है। बँगला के नाटकों से भी अधिक उसके उपन्यास हिंदी में भाषातरित किए गए हैं। उपन्यास-अनुवादकों मे गदाधर सिंह, रामकृष्ण वर्मा और कातिकप्रसाद खत्री के नाम पहले आते हैं। इन लोगों की भाषा मे हिंदीपन ही विशेष था, उसमें उर्दू, फारसी या सस्कृत का बहुत

उपन्यास

कम लगाव था। इनके बाद बा० गोपालराम गहमरी ने बँगला से कई घरेलू विषयों से संबंध रखने वाले उपन्यासों का उल्था किया। इनमे से कुछ के नाम ये हैं—'देवरानी जेठानी', 'तीन पतोहू', 'बड़ा भाई'। प० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भी इसी बीच 'वेनिस का बांका' उर्दू से अनूदित किया था। इसकी भाषा संस्कृत-मयी है। प० रूपनारायण पांडेय ने बहुत से प्रसिद्ध बँगला उपन्यासों के अनुवाद करने में बहुत दिनो से लग्गा लगा रखा है। इन्होंने सबसे अधिक अनुवाद किए हैं। प० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने भी अपने थोड़े समय के जीवन में कई उपन्यासो के अनुवाद किये थे और इधर बा० धन्यकुमार जैन ने कई हास्यपूर्ण उपन्यासों के अनुवाद किए हैं। बंकिम बाबू, रमेशचंद्र दत्त, चंडी चरण, शरच्चंद्र, रवींद्र नाथ, राखालदास आदि प्राय समस्त ख्यात-नामा बंगाली उपन्यासकारों की कृतियां अनूदित हो चुकी हैं। प० लक्ष्मीधर बाजपेयी और बा० रामचंद्र वर्मा ने उषाकाल आदि कई मराठी उपन्यासों का तथा प० गिरधर शर्मा नवरत्न ने सरस्वतीचंद्र, जयाजयंत आदि गुजराती उपन्यासो के अनुवाद किए हैं। रूसी, फ्रेंच, और अंगरेजी के उपन्यासों का अनुवाद करनेवालों में बा० रुद्रनारायण अग्रवाल, प० छविनाथ पांडेय, श्री प्रेमचंद आदि का नामोल्लेख आवश्यक है। इस प्रकार भारतीय और विदेशी भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यास धड़ल्ले से हिंदी मे आ रहे हैं।

मौलिक उपन्यासकारों में देवकीनंदन खत्री सब से पहले हैं। इन्होंने 'कुसुमकुमारी' 'वीरेंद्रवीर' आदि कई उपन्यास पहले-पहल लिखे। किंतु इनकी विशेष प्रसिद्धि 'चद्रकाता' और 'चद्रकाता संतति' नामक दो बडे ऐयारी और तिलिस्म के उपन्यासों से है। हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा में कुतूहल बढानेवाली घटनाओं से परिपूर्ण इन उपन्यासों की कुछ दिन बडी धूम रही। मौलिक उपन्यासकार प० किशोरीलाल गोस्वामी ने साहित्यिक, सामाजिक आदि भिन्न भिन्न विषयों पर कुल मिलाकर ६५ उपन्यास लिखे हैं। इनके कुछ उपन्यास ये हैं—चपला, लखनऊ की कब्र, गुलबहार, लीलावती, राजकन्या, सेज पर साँप, आरसी में हीरे की कनी, इसे चौधराइन कहे की डाइन ? और शाति कुटीर। इन उपन्यासो में चरित्र चित्रण उच्चकोटि का नही हुआ, और न भाषा सबधी स्थिरता ही दिखाई पडती है, किसी मे उर्दू-ए-मुअल्ला है तो किसी में सस्कृत पूर्ण हिंदी। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने स० १९५६ मे 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और १९६४ मे 'अधखिला फूल'—यह दो मौलिक उपन्यास लिखे। इनकी औपन्यासिक कला का नहीं वरन् सरल भाषा का अधिक महत्व है। मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी 'धूर्त रसिकलाल', 'आदर्श दपति', 'आदर्श हिंदू' आदि कई उपन्यासों में प्राचीन हिंदू सस्कृति का अच्छा चित्र दिखाया है। बा० ब्रजनंदन सहाय बी०ए०, के 'सौंदर्योपासक' और 'राधाकात' में शुद्ध साहित्यिक ढग से मानसिक विचारों का काव्यमय वर्णन है। इन लोगों के अनंतर आधुनिक युग के

सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार बाबू धनपतराय बी० ए० (जन्म स० १९३७) ने उर्दू को छोडकर हिंदी मे लिखना आरभ किया। यह अपने वास्तविक नाम से नही किंतु 'प्रेमचद' नाम से अमर रहेंगे। प्रेमचदजी के उपन्यासों मे कला की दृष्टि से 'सेवासदन' सर्वोत्तम है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', कायाकल्प' और 'गबन' इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। प्रेमचद जी ने मानव प्रकृति का अत्यत स्वाभाविक यथातथ्य वर्णन करने मे कमाल कर दिया है। इनके वर्णन वर्ण्य-विषय का चित्र खीच देते हैं। इनकी भाषा अधिकतर बोलचाल की सरल एव सरस है, उसमे प्रति दिन प्रयोग मे आने वाले मुहावरो की अच्छी पुट रहा करती है। इस युग के दूसरे उदीयमान लेखक थे चडीप्रसाद 'हृदयेश' (जन्म सं० १९५६) यह थोडी आयु मे ही, कुछ वर्ष बीते मर गए। इससे इनकी मौलिक प्रतिभा का पूर्ण विकास दिखाई न दे सका। इनके उपन्यासों मे 'मगल प्रभात' विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भाषा मे सस्कृतपन अधिक रहता है और उसमे काव्य का सा आनद आ जाता है। जयशकरप्रसाद का 'ककाल' भी उत्तम उपन्यास है। उग्र ने 'इद्रधनुष', 'बुधुआ की बेटी' आदि कई सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। इनकी भाषा बडी जोरदार है। वृदावनलाल वर्मा को हिंदी का एक मात्र ऐतिहासिक उपन्यासकार कहना चाहिए। प० इलाचद जोशी तथा पडित विश्वभरनाथ कौशिक ने भी हाल में कुछ उपन्यास लिखे हैं। इनका चरित्र-चित्रण सुदर है। इनके अतिरिक्त अन्य कई उपन्यासकार अपनी कृतियों से हिंदी

का भंडार भर रहे हैं।

आजकल हम लोगों को इतने अधिक काम रहते हैं कि कहानी 'चंद्रकांता संतति' जैसे विशालकाय उपन्यासों के पढ़ने के लिए हममें न तो धैर्य ही होता है और न हमारे पास इस काम के लिए समय ही रहता है। इसलिए अंगरेजी तथा बंगला की देखा-देखी हिंदी-मासिक पत्रिकाओं से भी 'गल्पें' अथवा छोटी छोटी कहानियाँ इस शताब्दी के आरंभ में निकलने लगी। 'सरस्वती' में उसके जन्मकाल के कुछ दिनों के पश्चात् ही स्वर्गीय गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वती-नंदन' नाम से आख्यायिकाएँ लिखना आरंभ किया था। फिर तो बहुत से अन्य लोगों ने भी मौलिक तथा अन्य भाषाओं से अनूदित कहानियाँ लिखना प्रारंभ कर दिया। आजकल कोई भी ऐसी मासिक पत्रिका नहीं निकलती जिसमें दो एक कहानियाँ न हों। साप्ताहिक एवं दैनिक पत्रों तक में प्रायः छोटी-छोटी कहानियाँ अब छपा करती हैं। कुछ लोग अब बहुत सुंदर आख्यायिकाएँ लिखते हैं। प्रेमचंद जी को छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने में उपन्यास-लेखन से अधिक सफलता मिली है। उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ लिखी हैं, और बराबर लिखा करते हैं। यह स्वाभाविक चरित्रांकन में बड़े पटु हैं। पं० ज्वालादत्त, पं० विश्वंभरनाथ शर्म्मा 'कौशिक', बा० बद्रीनाथ 'सुदर्शन' बा० जयशंकर 'प्रसाद', पांडेय बेचन शर्म्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि अनेक लेखक अच्छी कहानियाँ लिखा करते हैं। कौशिकजी कहानियों

मे ग्राम्य चरित्र बहुत अच्छा अकित करते हैं, सुदर्शन जी पजावी होते हुए भी भावपूर्ण गल्पें सरल हिंदी में लिखते हैं, प्रसाद की कहानियाँ कवित्व पूर्ण हुआ करती हैं। वा० चडीप्रसाद 'हृदयेश' भी अत्यत ललित भाषा में सामाजिक कहानियाँ लिखा करते थे। इन लोगों की कहानियो के कई स ग्रह निकल चुके हैं। ज्वालादत्त शर्मा, रायकृष्णदास, उग्र, विनोद शकर व्यास तथा अन्य बहुत से कहानी लेखक हमारे आख्यायिका-साहित्य के निर्माण मे लगे हुए हैं। इन मौलिक आख्यायिकाओ के साथ कुछ लोग वगाल, फ्रेंच, रूसी, इटालियन आदि की प्रसिद्ध कहानियों के अनुवाद किया करते हैं। यह विशेषकर मासिक पत्रों मे मुद्रित हुआ करती हैं।

भारतेंदु के कुछ समकालीन लेखक स्थायी साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त त्योहार, उत्सव, ऋतु आदि पर निवध लिखा करते थे।

निवध प्रतापनारायण मिश्र, वदरीनारायण चौधरी, वालकृष्ण भट्ट आदि ने ऐसे विषयो पर अपनी अपनी रुचि के अनुसार लेखनी चलाई। इनके वाद पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रसिद्ध अँगरेज निवध-लेखक लार्ड बेकन के कुछ निवधों का अनुवाद 'बेकन-विचार रत्नावली' नाम से किया, और प० गगा-प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के कई निवध 'निवध-मालादर्श' मे अनूदित किए। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के सपादन-काल मे उसमें अगणित निवध भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे। पर इनमें से केवल कुछेक को छोडकर अधिकांश

चलते विषयों पर हैं। इनके स्थायी विषयो पर विचारात्मक लेख थोड़े ही हैं। इन लेखों के कई सग्रह थोडे दिनों से निकल रहे हैं, जैसे 'सुकवि सकीर्तन', 'अद्भुत आलाप', 'विचित्र चित्रण', आदि। प० माधवप्रसाद मिश्र (सपादक 'सुदर्शन') इसी समय उत्पन्न हुए थे। इनके ओजस्वी, प्रभावशाली एव गभीर लेख थोड़े दिनों तक देखने को मिले। अकालमृत्यु ने इन्हें हमसे बड़ी जल्दी छीन लिया और इनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन मात्र देखने को मिला। बाबू बालमुकुद गुप्त (स० १९२२) ने अपने समय की स्थिति पर बहुत अच्छे निबध लिखे। इनका 'शिव शभु का चिट्ठा' बड़ी जानदार भाषा मे है। उर्दू के अच्छे विद्वान एव लेखक होने के कारण गुप्त जी की भाषा में जोवट, चलतापन और विनोद का पूर्ण परिपाक है। पडित गोविंदनारायण मिश्र ने गद्यकाव्यात्मक सस्कृत की अल-कारिक भाषा मे कई निबध लिखे थे। कुछ लोग इन्हे हिंदी का बाण कहते हैं। अनुप्रासों में इनको विशेष रुचि थी। हास्य-रसात्मक गद्य लिखने वाले पडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (स० १९३२) बाबू बालमुकुंद के मित्र हैं। गुप्त जी के 'भारत-मित्र' में चतुर्वेदी जी बराबर लिखा करते थे। इन्हें अनुप्रासमयी भाषा लिखने का ही नहीं, बोलने तक का रोग-सा है। इन्होने किसी स्थायी विषय पर कुछ नहीं लिखा। बाबू पूर्णसिंह के यद्यपि तीन-चार लेख उपलब्ध हैं तथापि उनमें उनकी मौलिक शैली व्यजित होती है। आचार्य रामचद्र शुक्ल विचारात्मक गभोर

निबध लिखने में अद्वितीय हैं। इन्होंने बहुत से मनोवैज्ञानिक निबध भी लिखे हैं। अध्ययन के लिये, शुक्लजी के निबध बहुत गूढ होते हैं। 'विचार वीथी' नाम से इनका एक निबध सग्रह थोडे दिन हुए छपा है। बाबू गुलाबराय एम० ए० ने भी विचार तथा भावपूर्ण कई निबध लिखे हैं और समय-समय पर लिखा करते हैं। दार्शनिक निबध लेखकों में ला० कन्नोमल और बाबू गगाप्रसाद उपाध्याय का उल्लेख आवश्यक है। आजकल गद्यकाव्यात्मक विक्षेप शैली के निबध लिखने की ओर भी कुछ लोग प्रवृत्त हैं। श्रीचतुरसेन शास्त्री का 'अतस्तल', श्रीरायकृष्णदास की 'साधना', 'भावना' आदि एव श्रीवियोगी हरि की 'तरगिणी' 'पगली' और 'अतर्नाद'—इस शैली के ग्रथ हैं। इनके भाव और उनके व्यक्त करने के ढग श्रेष्ठ और मनोरम हैं। श्रीवियोगी हरि का 'साहित्य विहार' गद्य-पद्य मिश्रित अपने ढग का अनोखा गद्य ग्रथ है। श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए०, ने भी कई विषयों पर अध्ययन पूर्ण निबध लिखे हैं, जिनसे उनकी विद्वता, विचार-शैली आदि का पता चलता है। 'साहित्य विमर्श', 'विश्व साहित्य' और 'पच पात्र' बख्शी जी के लेखों के सग्रह-ग्रथ हैं, इनमें कई अच्छे निबध स्थायी विषयों पर हैं।

आरभ में किसी पुस्तक के गुण-दोष दिखाना ही कदाचित् हमारे यहा हिंदी में समालोचना समझी जाती थी। प० बदरी नारायण ने अपनी 'आनद-कादविनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवास

समालोचना दास के 'सीता स्वयंबर' नाटक की बडी तीव्र

आलोचना की थी। सभवत यहीं से हिंदी मे समालोचना का सूत्रपात हुआ। प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी 'कालिदास की आलोचना' लिखकर आलोचनात्मक ग्रथ प्रणयन का आरभ किया। द्विवेदीजी ने 'विक्रमाकदेव चरित-चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' में इन ग्रथो की विशेषताएँ दिखाई। 'कालिदास की निरकुशता' में इन्होंने कालिदास के व्याकरण-सबधी दोषो की आलोचना की। द्विवेदी जी ने यद्यपि हिंदी के किसी कवि की अगरेजी के ढग से साहित्यिक समीक्षा नहीं की, तथापि उन्होंने सरस्वती में अपने समय की पुस्तको की भाषा, व्याकरण आदि की अशुद्धियों पर बडी तीव्र आलोचनाएँ कीं। इनसे भावी लेखक सभल गये। मिश्रबधुओं (रा बा प० श्यामविहारी मिश्र, एम० ए० और रायबहादुर प० शुकदेव विहारी मिश्र, बी० ए०) ने 'हिंदी नवरत्न' में हिंदी के नौ (और अब दस) प्रसिद्ध कवियों पर आलोचनात्मक निबध लिखे। कवियो की आलोचना पहले पहल इसी ग्रथ से आरभ हुई। इन लोगों की सम्मितियाँ यद्यपि सर्वग्राह्य नहीं हैं तथापि उन्होंने इस ओर ध्यान आकर्षित कर स्तुत्य कार्य किया है। इसके कुछ दिन पश्चात् प० पद्मसिंह शर्मा ने विहारी के विषय में बहुत बढिया आलोचनात्मक ग्रथ लिखा। विहारी के दोहों को 'आर्या सप्तसती' तथा 'गाथा सप्त-सती के पद्यों और हिंदी के अन्य पूर्व तथा पर-वर्ती कवियों की रचनाओं से तुलना कर शर्मा जी ने हिंदी में तुलनात्मक समालोचना का प्रारभ किया। किंतु शर्मा जी ने विहारी की

श्रीसत्यव्रत सिद्धातालंकार का 'मौर्य कालीन भारत', पडित हरिमगल मिश्र, एम० ए० का 'प्राचीन भारत', महामहोपाध्याय प० गौरीशकर हीराचद ओझा का 'राजपूत जाति का इतिहास', पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का 'भारत के प्राचीन राजवश' आदि भापा तथा साहित्यिक दृष्टि मे अच्छे हैं। प० नदकुमारदेव शर्मा ने भी 'शिवाजी', 'नदकुमार को फाँसी' आदि कई अच्छे ग्रथ लिखे थे। स्कूलो मे पढाई जाने वाली इतिहास पुस्तको में डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के भारतवर्षीय इतिहास अच्छे हैं। अर्थ-शास्त्र सबधी साहित्य प्रस्तुत करने मे डाक्टर प्राणनाथ डी० एस सी, विद्यालकार, प्रो० दयाशकर दुबे, एम० ए०, एल० एल० बी०, श्री० भगवानदास केला, श्री० कस्तूरमल जेठिया, प० गौरीशकर शुक्ल आदि ने स्तुत्य कार्य किए हैं, और कर रहे हैं। पुरातत्व सबधी ग्रथ उक्त ओझाजी, प० जनार्दन भट्ट एम० ए०, आदि ने लिखे हैं। वैज्ञानिक लेख एव ग्रथ प्रणयन मे श्री शालग्राम भार्गव, श्री गोपाल स्वरूप भार्गव, बा० रामदास गौड़, श्रीसत्यप्रकाश आदि बहुत से विद्वानो के कार्य प्रशसनीय हैं। वैज्ञानिक विषयो पर आज कल प्राय सब मासिक पत्रों मे कुछ न कुछ निकला ही करता है। बा० व्रजेश बहादुर का प्राणी-शास्त्र-सबधी 'जतु जगत' नामक एक सुदर ग्रथ हिंदुस्तानी ऐकेडेमी प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इसकी भापा सरल तथा रोचक है। 'भापा विज्ञान' का आरभ बा० श्यामसुदरदास, श्री नलिनीमोहन सान्यल और डाक्टर

मगलदेव के ग्रथ कर रहे हैं। स्वर्गीय प० चद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' शीर्षक वृहद् लेख से अपने भाषातत्वविद् होने का पूर्ण आभास दिया था। उनके अकाल देहावसान ने अभी तक इस विषय में मौलिक अन्वेषण कार्य आगे नहीं बढने दिया। हमारी भाषा एव साहित्य के इतिहास पर भी अब अच्छी रचनाएँ हो रही हैं। 'मिश्रबधु विनोद' को इस विषय का पथ प्रदर्शक कहना चाहिए। वैज्ञानिक ढग से लिखित प० रामच द्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इस विषय के ग्रथों में सर्वोत्तम है। बा० श्यामसु दर दास के 'हिंदी भाषा और साहित्य' में हिंदी साहित्य की विचार धाराओं का अच्छा निदर्शन है। प० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिंदी साहित्य' का इतिहास तथा प० सूर्यकात का 'हिंदी साहित्यका विवेचनात्मक इतिहास' भी कई दृष्टियो से मौलिकता पूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ छोटी छोटी पुस्तके भी इस विषय की हैं। राजनीति एव समाजनीति पर भी इन दिनो प्राय बहुत लेख निकला करते हैं। श्री सुखसपतिराय भडारी, श्रीभगवानदास केला आदि ने कई अच्छी पुस्तकें इन विषयों पर लिखी हैं। यात्रा तथा भ्रमण स बधी लेख तो आजकल बहुत निकलते हैं। दो-चार लेखकों ने अपने यात्रानुभव पुस्तक रूप में भी प्रस्तुत किए हैं। बाबू शिवप्रसाद गुप्त को 'पृथिवी प्रदक्षिणा' और श्री गोपाल नेवटिया का 'कास्मीर' बहुत अच्छे और सचित्र ग्रथ हैं। स्वामी सत्यदेव की कई पुस्तकें

इस दिशा में पथप्रदर्शक थी। जीवन चरित्र संबंधी साहित्य की तो हिंदी में बाढ-सी आई है। फिर भी कुछ थोडी सी पुस्तकों को ही प्रौढ रचना कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त शरीर-विज्ञान, चरित्र-निर्माण, धर्म-निरूपण आदि अन्य विषयों पर अच्छी-अच्छी रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। साराश, आजकल हमारे जीवन मे आवश्यक सभी प्रकार के विषयों पर हिंदी मे ग्रथ-रचना हो रही है और हर साल बहुतसी अच्छी पुस्तकों का समावेश हमारी भाषा में होता जाता है, और हिंदी की सर्वांगीण उन्नति की ओर लोग प्रयत्नशील हैं। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भी गद्य का सर्वतो- मुखी विकाश हो रहा है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी उपसंहार गद्य का भविष्य उज्वल है। केवल हिंदी भाषा-भाषी लोग ही नहीं इसमें लेख एव ग्रथ लिख रहे हैं, प्रत्युत विभिन्न भाषा-भाषी भी इसकी राष्ट्रीय महत्ता स्वीकार कर इसके द्वारा भावाभिव्यक्ति कर रहे हैं यद्यपि अभीतक हिंदी गद्य में स्थायी साहित्य के रूप में गिने जाने वाले ग्रथ इने-गिने ही हैं, परन्तु निकट भविष्य में प्रौढ रचनाओं के होने के चिन्ह दिखाई पड रहे हैं। हमारा विश्वास है कि अनतिदूर भविष्य मे हिंदी का गद्य साहित्य उसके प्राचीन पद्य-साहित्य से भी श्रेष्ठतर हो जायगा और ससार की अन्य समुन्नत भाषाओं का समकक्ष होगा।

गद्य मुक्ता-हार

मंत्रणा

[भारतेंदु हरिश्चंद्र]

पात्र—

राक्षस—नन्द का ब्राह्मण मंत्री, चन्द्रगुप्त का पहले तो विरोधी, पर अंत में चाणक्य की कूटनीति से परास्त होने पर, उसका भी मंत्री।

मलयकेतु—पर्वतक का पुत्र, नाटक का प्रतिनायक।

करभक—राक्षस का भेदिया।

भागुरायण—चाणक्य का भेदिया, मलयकेतु का बना हुआ मित्र।

शकटदास—राक्षस का मित्र, चन्द्रगुप्त का विरोधी।

क्षपणक—वेश बदले हुए चाणक्य का जीवसिद्धि नामक भेदिया, जो राक्षस के पास रहता था।

प्रियंवदक—राक्षस का सेवक।

द्वौवारिक, कंचुकी, एक पुरुष आदि

स्थान—मंत्री राक्षस के घर के बाहर का प्रांत

[करभक घबड़ाया हुआ आता है]

करभक—अहाहा हा! अहाहा हा!

अतिसय दुरगम ठाम में, सत जोजन सों दूर।
कौन जात है धाइ बिनु प्रभु निदेस भरपूर॥

अब राक्षस मंत्री के घर चलूँ। (थका सा घूमकर) अरे कोई चौकीदार है? स्वामी राक्षस मंत्री से जाकर कहो कि करभक काम पूरा करके पटने से दौड़ा आता है।

(दौवारिक आता है)

दौवारिक—अजी चिल्लाओ मत। स्वामी राक्षस मंत्री को राज-काज सोचते-सोचते सिर में ऐसी विथा हो गई है कि अब तक सोने के बिछौने से नहीं उठे, इसमें एक घड़ी भर ठहरो। अवसर मिलता है तो मैं निवेदन किए देता हूँ। (परदा उठता है और सोने के बिछौने पर चिंता में भरा राक्षस और शकटदास दिखाई पड़ते हैं)

राक्षस—(आप ही आप)

कारज उलटो होत हैं कुटिल नीति के जोर।
का कीजै, सोचत यही जागि होय है भोर॥

और भी वह दुष्ट ब्राह्मण चाणक्य—

दौवारिक—(प्रवेश कर) जय जय।

राक्षस—किसी भाँति मिलाया या पकड़ा जा सकता है?

दौवारिक—अमात्य—

राक्षस—(बाँए नेत्र के फड़कने का अपशकुन देखकर आप ही आप) 'ब्राह्मण चाणक्य जय जय' और 'पकड़ा जा सकता है अमात्य' यह उल्टी बात हुई और उसी समय असगुन भी हुआ। तो भी क्या हुआ? उद्यम नहीं छोड़ेंगे (प्रकाश) भद्र, क्या कहता है?

दौवारिक—अमात्य, पटने से करभक आया है सो आपसे मिला चाहता है।

राक्षस—अभी लाओ।

दौवारिक—जो आज्ञा (बाहर करभक के पास जाकर, उसको सग ले आकर) भद्र, मन्त्रीजी वह बैठे हैं, उधर जाओ।

(जाता है)

करभक—(मन्त्री को देखकर) जय हो, जय हो।

राक्षस—अजी करभक, आओ आओ, अच्छे हो ? बैठो।

करभक—जो आज्ञा (पृथ्वी पर बैठ जाता है)।

राक्षस—(आप ही आप) अरे! मैंने इसको किस काम का भेद लेने को भेजा था, वह कार्य के आधिक्य के कारण भूला जाता है (चिंता करता है)।

[बेंत हाथ में लेकर एक पुरुष आता है]

पुरुष—हटे रहना—बचे रहना—अजी दूर रहो—दूर रहो, क्या नहीं देखते ?

नृप द्विजादि, जिन नरन को मगल रूप प्रकास।
ते न नीच सुग्गृह लखहिं, कैसो पाम निवास॥

(आकाश की ओर देखकर) अजी क्या कहा कि क्यो हटाते हो ? अमात्य राक्षस के सिर में पीड़ा सुनकर कुमार मलयकेतु उनको देखने का इधर ही आते हैं।

(जाता है)

[भागुरायण और कचुकी के साथ मलयकेतु आता है]

मलयकेतु—(लंबी साँस लेकर आप ही आप) हा! देखो, पिता के मरे आज दस महीने हुए और व्यर्थ वीरता का अभिमान करके अब तक हम लोगों ने कुछ भी नहीं किया वरन तर्पण करना भी छोड़ दिया। या क्या हुआ मैंने तो पहले यही प्रतिज्ञा ही की है—

कर वलय उर ताड़त गिरे आँचरहु की सुधि नहिं परी।
किमि करहिं आरतनाद हाहा अलक खुलि रज सों भरी॥
जो शोक सों भइ मातुगन की दशा सो उलटाइहै।
करि रिपु-जुवतिगन की सोई गति पितहि तृप्ति कराइहै॥

(प्रकाश) अजी जाजले, सब राजा लोगों से कहो कि मैं बिना कहे सुने राक्षस मंत्री के पास अकेले जाकर उनको प्रसन्न करूँगा, इससे वे सब लोग उधर ही ठहरें।

कंचुकी—जो आज्ञा। (घूमते घूमते नेपथ्य की ओर देखकर) अजी राजा लोग, सुनो। कुमार की आज्ञा है कि मेरे साथ कोई न चले। (देखकर आनंद से) महाराजकुमार, देखिए आपकी आज्ञा सुनते ही सब राजा रुक गए।

मलयकेतु—अजी जाजले, तुम भी सब लोगों को लेकर जाओ। एक केवल भागुरायण मेरे संग रहे।

कंचुकी—जो आज्ञा (सबको लेकर जाता है)।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! जब मैं यहाँ आता था तो भद्रभट प्रभृति लोगों ने मुझसे निवेदन किया कि 'हम राक्षस मंत्री के द्वारा कुमार के पास नहीं रहा चाहते, कुमार के

सेनापति शिखरसेन के द्वारा रहेंगे। दुष्ट मत्री ही के डर से तो चद्रगुप्त को छोडकर यहाँ सब बात का सुबीता जानकर हम लोगो ने कुमार का आश्रय लिया है।' सो उन लोगो की बात का मैंने आशय नहीं समझा।

भागुरायण—कुमार, यह तो ठीक ही है, क्योंकि अपने कल्याण के हेतु सब लोग स्वामी का आश्रय हित और प्रिय के द्वारा करते हैं।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, तो फिर राक्षस मत्री तो हम लोगों का परम प्रिय और बडा हित है।

भागुरायण—ठीक है, पर बात यह है कि अमात्य राक्षस का वैर चाणक्य से है, कुछ चद्रगुप्त से नही है। इससे जो चाणक्य की बातों मे रूठकर चद्रगुप्त उसमे मत्री काम ले ले और नदकुल की भक्ति से 'यह नद ही के वश का है'—यह सोचकर राक्षस चद्रगुप्त से मिल जाय और चद्रगुप्त भी अपने बडे लोगो का पुराना मत्री समझकर उसको मिला ले, तो ऐसा न हो कि कुमार हम लोगों पर भी विश्वास न करे।

मलयकेतु—ठीक है, मित्र भागुरायण। राक्षस मत्री का घर कहाँ है ?

भागुरायण—इधर कुमार, इधर (दोनों घूमते है) कुमार, यही राक्षस मत्री का घर है। चलिए।

मलयकेतु—चले (दोनों भीतर जाते है)।

राक्षस—अहा! स्मरण आया, (प्रकाश) कहो जी, तुमने

कुसुमपुर में स्तनकलस वैतालिक को देखा था ?

करभक – क्यों नहीं ?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, जबतक कुसुमपुर की बातें हों तबतक हम लोग इधर ठहरकर सुनें कि क्या बात होती है, क्योंकि—

भेद न कछु जामें खुले याही भय सब ठौर।
नृप सों मंत्रीजन कहहिं बात और की और॥

भागुरायण—जो आज्ञा (दोनों ठहर जाते हैं)।

राक्षस—क्यों जी, काम सिद्ध हुआ ?

करभक—आमात्य की कृपा से सब काम सिद्ध ही है।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, वह कौन सा काम है ?

भागुरायण—कुमार, मंत्री के जी की बातें बड़ी गुप्त हैं। कौन जाने ? इससे देखिए अभी सुन लेते हैं कि क्या कहते हैं।

राक्षस—अजी भली भांति कहो।

करभक—सुनिए जिस समय आपने आज्ञा दी कि करभक, तुम जाकर वैतालिक स्तनकलस से कह दो कि जब-जब चाणक्य चंद्रगुप्त की आज्ञा भंग करे तब-तब तुम ऐसे श्लोक पढ़ो जिससे उसका जी और फिर जाय।

राक्षस—हाँ, तब ?

करभक—तब मैंने पटने में जाकर स्तनकलस से आपका सँदेसा कह दिया।

राक्षस—तब ?

करभक—इसके पीछे नदकुल के विनाश मे दु खी लोगो का जी बहलाने के हेतु चद्रगुप्त ने कुसुमपुर मे कौमुदी-महोत्सव होने की डौडी पिटा दी और उसको बहुत दिन से बिछुडे हुए मित्रो के मिलाप की भाँति पुर के निवासियो ने बडी प्रसन्नतापर्वक स्नेह मे मान लिया। तब चाणक्य दुष्ट ने सब लोगो के नेत्र के परमानद-दायक उस उत्सव को रोक दिया और इसी समय स्तनकलस ने ऐसे-ऐसे श्लोक पढे कि राजा का भी मन फिर जाय।

राक्षस—वाह मित्र स्तनकलस! वाह क्यो न हो! अच्छे समय मे भेद बीज बोया है, फल अवश्य होगा। क्योंकि—

नृप रूठे अचरज कहा सकल लोग जा सग।
छोटे हू माने बुरो परे रग मे भग॥

मलयकेतु—ठीक है ('नृप रूठे' यह दोहा फिर पढता ह)

राक्षस—हा, फिर क्या हुआ ?

करभक—तब आज्ञाभग से रुष्ट होकर चद्रगुप्त ने आपकी बडी प्रशसा की और दुष्ट चाणक्य से अधिकार ले लिया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, देखो, प्रशसा करके राक्षस मे चद्रगुप्त ने अपनी भक्ति दिखाई।

भागुरायण—गुण-प्रशसा से बढकर चाणक्य का अधिकार लेने से।

राक्षस—क्यो जी, एक कौमुदी महोत्सव के निषेध ही से चाणक्य-चद्रगुप्त मे बिगाड हुआ कि कोई और कारण भी है ?

मलयकेतु—क्यों मित्र भागुरायण, अब और वैर में यह क्या फल निकालेंगे ?

भागुरायण—यह फल निकाला है कि चाणक्य बडा बुद्धिमान् है, वह व्यर्थ चंद्रगुप्त को क्रोधित न करावेगा और चंद्रगुप्त भी उसकी बाते जानता है, वह भी बिना बात चाणक्य का ऐसा अपमान न करेगा, इससे उन लोगों मे बहुत झगडे से जो बिगाड होगा तो पक्का होगा।

करभक—आर्य, और भी कई कारण है।

राक्षस—कौन ?

करभक—कि जब पहले यहाँ से राक्षस और कुमार मलयकेतु भागे तब उसने क्यो नही पकडा ?

राक्षस—(हर्ष से) मित्र शकटदास, अब तो चंद्रगुप्त हाथ मे आ जायगा।

शकटदास—अब चंदनदास छूटेगा, और आप कुटुंब से मिलेंगे, वैसे ही जीवसिद्धि इत्यादि लोग क्लेश से छूटेंगे।

भागुरायण—(आप ही आप) हाँ, अवश्य जीवसिद्धि का क्लेश छूटा।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, अब मेरे हाथ चंद्रगुप्त आवेगा—इसमें इनका क्या अभिप्राय है ?

भागुरायण—और क्या होगा ? यही होगा कि यह चाणक्य से छूटे चंद्रगुप्त के उद्धार का समय देखते हैं।

राक्षस—अजी, अब अधिकार छिन जाने पर वह ब्राह्मण कहाँ है ?

करभक—अभी तो पटने ही में है।

राक्षस—(घबड़ाकर) हैं। अभी वहीं है ? तपोवन नहीं चला गया ? या फिर कोई प्रतिज्ञा नहीं की ?

करभक—अब तपोवन जायगा—ऐसा सुनते हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) शकटदास, यह बात तो काम की नहीं,

देव नन्द को नहिं सह्यो जिन भोजन-अपमान।

सो निज कृत नृप चन्द्र की बात न सहिहै, जान ॥

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, चाणक्य के तपोवन जाने वा फिर प्रतिज्ञा करने में कौन कार्य-सिद्धि निकाली है ?

भागुरायण—कुमार, यह तो कोई कठिन बात नहीं है। इसका आशय तो स्पष्ट ही है कि चन्द्रगुप्त से जितनी दूर चाणक्य रहेगा उतनी ही कार्य-सिद्धि होगी।

शकटदास—अमात्य, आप व्यर्थ सोच न करें क्योंकि स्वच्छन्द राज्य पाकर आत्माभिमानी चन्द्रगुप्त अपना अपमान न सह सकेगा और चाणक्य भी अब दूसरी प्रतिज्ञा नहीं करेगा क्योंकि पहली ही उसकी बड़ी कठिनता से पूरी हुई है।

राक्षस—ऐसा ही होगा। मित्र शकटदास, जाकर करभक को डेरा इत्यादि दो।

शकटदास—जो आज्ञा।

[करभक को लेकर जाता है।]

राक्षस—इस समय कुमार से मिलने की इच्छा है।

मलयकेतु—(आगे बढ़कर) मैं आप ही से मिलने को आया हूँ।

राक्षस—(आसन से उठकर) अरे कुमार, आप ही आगए। आइए, इस आसन पर बैठिए।

मलयकतु—मैं बैठता हूँ, आप विराजिए।

[दोनो बैठते हैं]

मलयकतु—इस समय सिर की पीडा कैसी है ?

राक्षस—जबतक कुमार के बदले महाराज कहकर आपको नही पुकार सकते तबतक यह पीडा कैसे छूटैगी ?

मलयकेतु—आपने जो प्रतिज्ञा की है तो सब कुछ होईगा परतु सब सेना-सामत के होते भी आप किस बात का आसरा देखते हैं ?

राक्षस—किसी बात का नही, अब चढाई कीजिए।

मालयकेतु—अमात्य, क्या इस समय शत्रु किसी सकट मे है ?

राक्षस—बडे।

मलयकेतु—किस सकट में ?

राक्षस—मत्री-सकट में।

मलयकेतु—मत्री-सकट तो कोई सकट नही है।

राक्षस—और किसी राजा को न हो तो न हो, पर चद्रगुप्त को तो अवश्य है।

मलयकतु—आर्य, मेरी जान मे चद्रगुप्त को और भी नही है।

राक्षस—आपने कैसे जाना कि चद्रगुप्त का मत्री-सकट सकट नही है ?

मलयकेतु—क्योंकि चद्रगुप्त के लोग तो चाणक्य के कारण उससे

उदास रहते हैं, जब चाणक्य ही न रहेगा तब उसके सब कामों को लोग और भी संतोष से करेंगे।

राक्षस—कुमार, ऐसा नहीं है। क्योंकि वहाँ दो प्रकार के लोग हैं—एक चंद्रगुप्त के साथी, दूसरे नंद-कुल के मित्र। उनमें जो चंद्रगुप्त के साथी हैं, उनको चाणक्य ही से दुःख था, नंद-कुल के मित्रों को नहीं, क्योंकि वे लोग तो यही सोचते हैं कि इसी कृतघ्न चंद्रगुप्त ने राज के लोभ से अपने पितृकुल का नाश किया है, पर क्या करें उनका कोई आश्रय नहीं है इससे चंद्रगुप्त के आसरे पड़े हैं। जिस दिन आपको शत्रु के नाश में और अपने पक्ष के उद्धार में समर्थ देखेंगे उसी दिन चंद्रगुप्त को छोड़कर आपसे मिल जायँगे। इसके उदाहरण हमीं लोग हैं।

मलयकेतु—आर्य, चंद्रगुप्त पर हारने का एक यही कारण है कि कोई और भी है ?

राक्षस—और बहुत क्या होंगे। एक यही बड़ा भारी है।

मलयकेतु—क्यों आर्य, यही क्यों प्रधान है ? क्या चंद्रगुप्त और मंत्रियों द्वारा या आप अपना काम करने में असमर्थ है ?

राक्षस—निरा असमर्थ है।

मलयकेतु—क्यों ?

राक्षस—क्योंकि जो स्वयं राज्य सँभालते हैं या जिनका राज राजा और मंत्री दोनों करते हैं वह राजा ऐसे हों तो हों, परन्तु चंद्रगुप्त तो कदापि ऐसा नहीं है। चंद्रगुप्त एक तो दुरात्मा

है, दूसरे वह तो सचिव ही के भरोसे सब काम करता है, इससे वह कुछ व्यवहार जानता ही नहीं तो फिर वह सब काम कैसे कर सकता है ?

मलयकेतु—(आप ही आप) तो हम अच्छे हैं कि सचिव के अधिकार मे नहीं (प्रकाश) अमात्य, यद्यपि यह ठीक है तथापि जहा शत्रु के अनेक छिद्र हैं तहाँ एक इसी सिद्धि से सब काम न निकलेगा।

राक्षस—कुमार के सब काम इसीसे सिद्ध होंगे। देखिए,

चाणक्य को अधिकार छूट्यौ, चद्र हैं राजा नए।
पुर नद में अनुरक्त, तुम निज बल-सहित चढ़ते भए॥
जब आप हम [कहकर लज्जा से कुछ ठहर जाता है]
तुव बस सकल उद्यम सहित रन मति करी।
वह कौन सी नृप, बात जो नहिं सिद्धि ह्वैहै ता घरी॥

मलयकेतु—अमात्य, जो अब आप ऐसा लड़ाई का समय देखते हैं तो देर करके क्यो बैठे हैं ?

[शस्त्र उठाकर भागुरायण के साथ जाता है]

राक्षस—कोई है ?

[प्रियंवदक आता है]

प्रियंवदक—आज्ञा ?

राक्षस—देख तो द्वार पर कौन भिक्षुक खड़ा है ?

प्रियंवदक—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आता है)। अमात्य,

एक क्षपणक भिक्षुक ।

राक्षस—(असगुन जानकर आप ही आप) पहले ही क्षपणक का दर्शन हुआ।

प्रियंवदक—जीवसिद्धि है ।

राक्षस—अच्छा, बुला कर ले आ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (जाता है)

[क्षपणक आता है]

क्षपणक—पहले कटु परिणाम मधु, औषध सम उपदेस।
मोह व्याधि के वैद्य गुरु, तिनको सुनहु निदेस॥

[पास जाकर] उपासक, धर्म-लाभ हो।

राक्षस—ज्योतिषी जी, बताओ, अब हम लोग प्रस्थान किस दिन करें ?

क्षपणक—(कुछ सोच कर) उपासक, मुहूर्त्त तो देखा। आज भद्रा तो पहर पहले ही छूट गई है और तिथि भी सम्पूर्ण-चन्द्रा पौर्णमासी है। आप लोगों को उत्तर से दक्षिण जाना है और नक्षत्र भी दक्षिण ही है।

अथए सूरहि, चन्द के उदए गमन प्रशस्त।
पाइ लगन बुध केतु तौ उदयो हू भो अस्त ॥

राक्षस—अजी पहिले तो तिथि ही नहीं शुद्ध है।

क्षपणक—उपासक।

एक गुनी तिथि होत है, त्यों चौगुन नक्षत्र।
लगन होत चौंसठ गुनो, यह भाखत सब पत्र ॥

लगन होत है शुभ लगन छोड़ि क्रूर ग्रह एक।
जाहु चंद्र-बल देखिके पावहु लाभ अनेक॥

राक्षस—अजी, तुम और ज्योतिषियों से जाकर झगड़ो।

क्षपणक—आप ही झगड़िए, मैं जाता हूँ।

राक्षस—क्या आप रूस तो नहीं गए?

क्षपणक—नहीं, तुमसे ज्योतिषी नहीं रूसा है।

राक्षस—तो कौन रूसा है?

क्षपणक—(आप ही आप) भगवान, कि तुम अपना पक्ष छोड़ कर शत्रु का पक्ष ले बैठे हो। (जाता है)

राक्षस—प्रियंवदक, देख तो कौन समय है?

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (बाहर से हो आता है) आर्य, सूर्यास्त होता है।

राक्षस—(आसन से उठकर और देखकर) अहा! भगवान सूर्य अस्ताचल को चले—

जब सूरज उदयो प्रबल तेज धारि आकास।
तब उपबन तरवर सबै छायाजुत भे पास॥
दूर परे ते तरु सबै अस्त भए रवि-ताप।
जिमि धन-बिनु स्वामिहि तजे भृत्य स्वारथी आप ॥१२॥

(दोनों जाते हैं)

धोखा

[प० प्रतापनारायण मिश्र]

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट में बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायँ ? वरंच ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है। उसके लिये उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग

है, वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योस्य वक्ता" "चित्रदेवानमुदगादनीक" इत्यादि कहा है। और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा मे उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला। और सच भी यही है। जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों मे प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय मे कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थ' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है ? शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय मे भ्रम का आरोप भी न हो सके, पर उसके तो अस्तित्व तक मे नास्तिकों को सदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाये ससार मे भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदान्ती लोग जगत को मिथ्या भ्रम समझते हैं। यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व मे जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरात उनके किसी प्रिय

व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक मे वह फूट फूट कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यो हैं ? इसके उत्तर मे उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है। भ्रमोत्पादक भ्रम स्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (ससार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जबतक भ्रम है तभी तक ससार है, बरच ससार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नही। और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नही। परमेश्वर सब का भरम बनाये रक्खे, इसी मे सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया, वही लाख की भलमसी खाक मे मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर ससार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि स चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर ससार के किसी काम के नही रह जाते हैं, बरच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय,' इत्यादि सिद्धातों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठे वही थोडा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही में पडे रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाटना सत्यानाशी की जड है। ज्ञान की दृष्टि स देखे तो आपका शरीर मलमूत्र, मास, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और

दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव मे इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर मे कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमे वडा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख देख कर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिये तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नही है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरात न जाने किस के हाथ में वा किस दशा में पड के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमे क्या? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूदि गईं आँखे तब लाखे केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझ कर सब से सबध तोड दे तो सारी पूजी गॅवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुडियावें। 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार सुख-सुविधा, सुयश से वचित रह जावें। इतना ही नही बरच और भी सोचकर देखिये तो किसी को कुछ भी खबर नहा है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी?

बहुतेरो का सिद्धात यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घडी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट घट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव

बिगडा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इंद्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है। जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव ? कैसी आत्मा ? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पडता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अततोगत्वा योंही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग नर्कादि के सुख-दु खादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किंतु बडे बडे आस्तिकों के सिद्धात से भी 'अविदित सुख दु ख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड दें तो बुरे कामों में घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्रीसूरदासजी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पडता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी

दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव मे इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर मे कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमे बडा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख देख कर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिये तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नही है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरात न जाने किस के हाथ मे वा किस दशा मे पड के हमारे पक्ष मे कैसे हो जायँ, और मान भी ले कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमे क्या ? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूदि गईं आँखे तब लाखे केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझ कर सब से सबध तोड दें तो सारी पूजी गॅवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुडियावें। 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार सुख-सुविधा, सुयश से वचित रह जावें। इतना ही नही वरच और भी सोचकर देखिये तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी ?

बहुतेरों का सिद्धांत यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घडी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमे खट घट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव

सब कुछ उठा दीजिये तो क्या भीख मागके प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइयेगा, वा भूखों मर के आत्महत्या के पापभागी होइयेगा। योंही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई ससार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दड दिलवाइये वा आपही उसका दमन कर दीजिये तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बडा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर घी लीजिये तो उठने बैठने की शक्ति न रहेगी, और सखिया सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किंतु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिये तो बहुत से रोग दोष दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुदनी जोडकर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बडे भारी अनुभवशाली वरच 'गुरु गुड ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

योंही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भाप न सके। और तुम्हारा बलि पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकडे ताड भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आसू तथा गुरु-

सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण ससार का चर्खा पिन्न २ चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर २ होने लगे, वरच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौह क्यो सुकुड जाती हैं ? इसके उत्तर मे हम तो यही कहेगे कि साधारणत जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गॅवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नही रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनो बाते बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बध में हो ही जाया करती हैं।

इसीसे साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि इससे बच नही सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी मे रहनेवाला बेदाग नही रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर मे रहनेवाले अल्प सामर्थ्यी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नही सकता उसका उसकी निंदा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिये, कची खोपडी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गये हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम व वस्तु वास्तव मे भली अथवा बुरी नही होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगडने से बनाव बिगाड हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को

कवि और चितेरे की डाँड़ामेड़ी

[प० बालकृष्ण भट्ट]

इन दोनों की डाँड़ामेडी हम इसलिये कहते हैं कि मनुष्य तथा प्रकृति के भावों को ये दोनों ही प्रकट किया चाहते हैं— कवि लेखनी और शब्दों के द्वारा, चितेरा अपनी 'तूलिका' (रग भरने की कूँची) और भाँति भाँति के चित्र-विचित्र रगो से। काम दोनो का बहुत बारीक और अति कठिन है। केवल इतना ही नही, किंतु एक प्रकार की लोकोत्तर प्रतिभा दोनों के लिये आवश्यकीय है। किसी कवि का यह श्लोक- हमारे इस आशय को भरपूर पुष्ट करता है—

नामरूपात्मक विश्व यदिद दृश्यते द्विधा,
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुख।

अर्थात्—नाम और रूपात्मक जो दो प्रकार का यह ससार देख पडता है, उसमें से आदि अर्थात् नामात्मक जगत् का निर्माणकर्ता कवि है, और दूसरे का ब्रह्मा।

जानीते यन्न चन्द्रार्को जानन्ते यन्न योगिन,
जानीते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कवि स्वयम्।

अर्थात्—इस दृश्य जगत के साक्षी-रूप सूर्य और चन्द्रमा जिस बात को नही जानते, परोक्ष ज्ञानवान् योगीजन जिसे नही जानने

घटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो स्वादुपूर्वक खाओ। इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गये हैं कि आदमी कुछ खो के सीखता है, अर्थात् धोखा खाये बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

सत्कवियों ही के काव्य में यह खूबी पाई जाती है। फिर भी उतनी सफाई काव्य में न आवेगी। चित्र में अंतर्लीन मनोगत भाव सहज में दरशाया जा सकता है। मनोगत भावों का प्रकाश कालिदास और शेक्सपियर, इन्हीं दो, के काव्यों में विशेष पाया जाता है। मनोगत भाव—जैसे हर्ष, शोक, भय, घृणा, प्रीति इत्यादि—के उदाहरण साहित्य-दर्पण के तीसरे परिच्छेद में अच्छी तरह सगृहीत कर दिए गए हैं। यह बात कवि और चितेरे में बताने और सिखाने से उतनी नहीं आती, जितनी स्वाभाविक बोध से होती है, किंतु फिर भी फर्क इतना ही रहेगा कि कवि जिस आशय या भाव को बहुत-से शब्दों में लावेगा, उसे चित्रकार तूलिका के एक हलके-से झोंक में प्रकट कर देगा और कवि के वर्णित आशय का स्वरूप सामने खड़ा कर देगा।

चित्रकारी से कविता में इतनी विशेष बात है कि चित्र उतना चिरस्थायी न रहेगा, जितनी कविता रह सकती है। तस्वीर तथा काव्य में मनुष्य की प्रकृति का पूरा परिचय मिल जाता है। हमारे यहाँ के अमीरों के 'ड्राइग-रूम' में नगी तस्वीरों का रहना फैशन में दाखिल हो गया है। लखनऊ के नवाबों के खिलवतगाह में वेश्या और हसीनों की तस्वीर न हो, तो उनकी हुस्नपरस्ती में खामी समझी जाय। उर्दू-फारसी के काव्यों का प्रधान अग केवल शृंगार-रस है। आशिकी-माशूकी का दास्तान

और किसकी कहे, सर्वज्ञ सदाशिव भी जो बात नहीं जानते उसे कवि अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से जान लेता है।

कवि की प्रतिभा जिस भाव के वर्णन से लोकोत्तर चातुरी प्रकट कर दिखाती है, अच्छा निपुण चितेरा उसी को अपनी प्रतिभा से चित्र के द्वारा दिखला देता है। अच्छा चितेरा कवि के एक-एक श्लोक या दोहे के नीचे उसी भाव की ठीक तस्वीर खींच सकता है और तब इन दोनों में कहाँ तक तुलना है, इसका ठीक परिज्ञान हो सकता है। किंतु इन दोनों की कारीगरी के परीक्षक भी बड़े निपुण होने चाहिए। दोनों के काम की बारीकी और सूक्ष्म सौंदर्य के देखने को पैनी दृष्टि चाहिए। इस तरह के परीक्षक कोई विरले नागरिक जन होते हैं। उत्तम काव्य तथा चित्र के समझने को एक ही तरह की सूक्ष्म और तीखी समझ चाहिए। कवि और चित्रकार की कल्पना-शक्ति भी बिलकुल एक-सी है।

अब रहा 'उपादान-कारण' या सामान, अर्थात् कवि के लिये वाग्-विभव और चितेरे के लिये रंग का चटकीलापन इत्यादि, सो जिसके पास जैसा होगा, वैसा ही वह काव्य तथा चित्र बना सकेगा, क्योंकि कवि तथा चितेरे के लिये बाह्य वस्तु, जैसे वन, नदी, पर्वत आदि, के वर्णन की अपेक्षा मानसिक भावों का प्रकाश कविता तथा चित्र के द्वारा अधिक कठिन है। जिसे चित्रकार रंग की जरा-सी झाँई में प्रकट कर दिखाता है, उसी का प्रकट करना कवि के लिये इतना दुरूह है कि बेहद दिमाग-पच्ची करने पर दो-चार

एक अद्भूत शांति-रस का उद्गार मन मे आ जायगा। 'पॉलिटिक्स' की मदिरा के नशे में चूर प्रसिद्ध राजनीतिज्ञो के स्थान पर क्रामवेल, बिस्मार्क-सरीखे पटुबुद्धिवालों का चित्र देखिएगा। बाल-विवाह की सर्वस्व नाश करनेवाली कुरीति ने हिन्दू-जाति की संतानों की वृद्धि और उपचय को कहाँ तक सत्यानाश मे मिलाया, किस घृणित दशा मे इनको पहुँचा दिया और इस कुरीति की विषमय वायु से बचकर मनुष्य बल, पुष्टता, तेज, कांति, सौंदर्य का कहाँ तक संचय कर सकता है, इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिये हमे चाहिए कि मुगल तथा योरप देश के कमनीय बालक, युवती और दढ़ांग पुरुषो की कुछ तस्वीरें अपनी चित्रसारी मे टाँग रक्खें और सदैव उनको देखा करें।

कवि और चितेरे में कहाँ तक डाँडामेडी या परस्पर की स्पर्द्धा है—इसे हम अपने पाठको को दरशा चुके हैं। अब इन दोनो मे अंतर केवल इतना ही है कि सभ्यता का सूर्य ज्यों ज्यों उठता हुआ मध्याह्न को पहुँचता जाता है, त्यों त्यों चित्रकारी मे नई-नई तराश-खराश की बारीकी चौगुनी होती जाती है, पर कवियो की वाग्देवी जिस सीमा को पहले जमाने मे पहुँच चुकी है, उससे बराबर अब तक घटती ही गई, यद्यपि हाल की सभ्यता, बुद्धि-वैभव, शाइस्तगी के मुकाबले वह जमाना बहुत पीछे हटा हुआ था। लार्ड मेकाले ने अपने एक लेख मे इस बात को बहुत अच्छी तरह पर सिद्ध कर दिखाया है। मेकाले कहते हैं कि लोग इस सभ्यता के समय दर्शन,

जिसमें न हो, वह कोई शायरी ही नही है। उस भाषा के शायर इश्क को जैसे उम्दा तरह पर कह सकते हैं, वैसे उम्दा और नव-रसो में दूसरे रस का वर्णन उनसे न बन पडेगा, और सो भी उनका इश्क बहुधा पुरुषो पर होगा, स्त्रियाँ उनकी माशूका बहुत कम पाई जाती हैं। हमारे देश के भद्दी पसद के महाजनो तथा मारवाडियों की दूकानो पर बनारस की बनी निहायत भद्दी देवताओ की भोंडी तस्वीर के सिवा और कुछ न पाइएगा, जिन तस्वीरों की भद्दी चित्रकारी के सामने मानो कलकत्ते का 'आर्ट-स्टूडियो' और पूना की चित्र-शाला झख मारती है। इनकी निराली पसद के ठीक उपयुक्त "दानलीला", "मानलीला" इत्यादि के आगे हम लोगो के प्रौढ लेग्व की चातुरी कब इनके मन मे स्थान पा सकती है। किसी ने कहा है—

"ये गॉहक करबीन के तुम लीनो कर बीन।"

इसी तरह प्रकृति-प्रेमियो को शाति-उत्पादक वन, पर्वत, आश्रम, नदी का पुलिन, ऋतु, हरियाली आदि के चित्र पसद आते हैं। उनके स्थान पर जाने से प्राय ऐसे ही चित्र पाइएगा। किसी अँगरेजी के विद्वान् का कथन है—"A picture in the room is the picture of the mind of the man who hangs it" अर्थात् कमरे में लटकी हुई तस्वीर लटकानेवाले के मन की तस्वीर है। इसी तरह पर भक्तजनो के घर जाइए, तो सत, महत, महापुरुषों के चित्र पाइएगा, जिनके देखने मात्र से

समय उर्दू मे गद्य पुस्तक लिखने का ढग जारी हो गया था। उर्दू गद्य की सबसे पहली पुस्तक स०१ ८५५ वि० मे बनी। मीर अम्मन की प्रसिद्ध 'बागो बहार' नाम की पोथी स० १८५९ वि० मे बनी। उसके एक ही साल पीछे लल्लूलाल जी का प्रेम सागर बन गया। सरकारी दफ्तर स० १८९८ वि० में उर्दू होने आरभ हुए थे। स० १८९३ मे अखबारो को स्वाधीनता मिली

स० १८९० मे उर्दू का पहला अखबार दिल्ली मे जारी हुआ। उसका नाम मालूम नही क्या था। लाहौर के गवर्नमेंट कालिज के अरबी भाषा के प्रोफेसर मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद दिल्ली निवासी ने अपनी 'आबेहयात' नाम की पोथी मे केवल इतना लिखा है कि उर्दू का पहला अखबार दिल्ली से मेरे पिता के कलम से निकला। जान पडता है कि उक्त अखबार बहुत दिन तक नहीं चला इसी से प्रोफेसर आजाद ने उसका कुछ विशेष उल्लेख नही किया वह अखबार अब तक जारी रहता तो ६७ साल का होता। उसके बाद कोई और उर्दू अखबार निकला या नहीं कुछ पता नही।

उक्त पत्र मे राजनीति, समाजनीति आदि के लेख नहीं निकलते थे जैसे कि आज कल के समाचार पत्रो में निकलते हैं। उर्दू के विद्वान् और कवि लोगो के वादानुवाद और कविता सबधी बातें उसमे छपतीं थीं इतने पर भी बडे बडे अगरेज हाकिम उसे अस्सी अस्सी और अडतालिस अडतालिस रुपये वार्षिक

हिंदी के आरंभिक अखबार

[बा० बालमुकुंद गुप्त]

हिंदी के अखबारो के विषय में कुछ विशेष आलोचना करने का विचार जो मे आने से पहले ही उर्दू अखबारो की ओर दृष्टि जाती है क्योंकि उर्दू के अखबार हिंदी से पहले जारी हुए हैं और उन्होंने हिंदी अखबारो से पहले तरक्की के मैदान मे कदम आगे बढाया है। ऊपर से देखिये तो उर्दू और हिंदी में इस समय अनबन है। उर्दू के तरफदार हिंदी वालो को और हिंदी के पक्षवाले उर्दू वालों को कुछ कुछ टेढी दृष्टि से देखते हैं, पर वास्तव मे हिंदी उर्दू का बडा मेल है। यहाँ तक कि दोनो एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं, केवल फारसी जामा पहिनने से एक उर्दू कहलाती है और देवनागरी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिंदी।

अँगरेजी सरकार ने अपना अमल भारत में जमाकर भारत की भाषा का ईरानी लिबास पसद किया। उसी लिबास से भारत की भाषा अँगरेजी अदालतो मे पहुची। पजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश को अदालती भाषा उर्दू ठहरी। अदालती भाषा होने से पहले ही उर्दू पर अँगरेजो की दृष्टि पड़ चुकी थी। इस बात को आज सौ साल से अधिक हो गये। उस

उसकी भाषा का भी एक नमूना उक्त पोथी में दिखाया गया है। वह इस प्रकार है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाव कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद में बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है, अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तैयार हरचेहार तरफ में होगया बल्कि इसके नकशे का बयान पहले मुदर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बडी तदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देखकर लोग उस पाठशाला के किते के मकानों की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उसके बनने के खर्च का तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो सब दानाई साहब ममदूह की है, खर्च से दूना लगावट मे वह मालूम होता है।"

महाराज काशीराज के शिक्षा गुरु मुंशी शीतलसिंह साहब ने इसकी भाषा पर एक कता लिखकर दिल्लगी की थी। वह कता इस प्रकार है—

बनारस में इक जो बनारस गजट है।
इबारत सब उसकी अजब ऊट पट है॥
मुहर्रिर निचारा तो है बासलीका।
बले क्या करें वह कि तहरीरें भट है॥

इस कते से यह पता नहीं लगता कि मुंशी साहब ने 'बनारस अखबार' की इबारत की किस लिये दिल्लगी की।

टेकर खरीदते थे। इसके पीछे फुलिस्केप आकार के १६ पृष्ठ पर आगरे से 'मुफीदे खलायक' नामक एक अखबार निकला। वह कई वर्ष तक जारी रहा। उसमे खबरे निकलती थीं, भारत के इतिहास के दो पृष्ठ उसमे निकलते थे। इसके सिवा उर्दू के कवियों की गजले और दूसरी चीजें उसमे छपती थीं। इससे यह अखबार भी ठीक ठीक अखबार कहने के योग्य न था।

स० १९०७ मे लाहोर से 'कोहनूर' नाम का एक साप्ताहिक उर्दू पत्र निकला। यह उर्दू का असली पत्र कहलाने के योग्य हुआ। उस साल हुए काशी निवासी बाबू राधाकृष्णदास ने हिंदी अखबारो के विषय मे एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी। उसमे उन्होंने दिखाया है कि हिंदी मे सब से पहले राजा शिवप्रसाद की सहायता से स० १९०२ वि० मे 'बनारस-अखबार' निकला, उक्त पत्र लीथो में रद्दी-से कागज पर छपता था। एक महाराष्ट्रीय सज्जन गोविंद रघुनाथ थत्ते उसके सपादक थे। उसका मोटो यह था—

सुबनारस अखबार यह, शिवप्रसाद आधार,
बुधि विवेक जन निपुनको, चितहित बारबार।
गिरजापति नगरी जहाँ, गग अमल जलधार,
नेत शुभाशुभ मुकुरको, लखो विचार विचार॥

उसकी भाषा का भी एक नमूना उक्त पोथी मे दिखाया गया है। वह इस प्रकार है—

दिया। लाहौर से उर्दू का "कोहेनूर" स० १९०६ में निकला था उसी साल काशी से "सुधाकर" नाम का हिंदी पत्र तारामोहन मित्र नामी एक बंगाली सज्जन के द्वारा प्रकाशित हुआ। कोहेनूर बहुत दिन तक भली भाति चला और अब तक भी इसका अस्तित्व एकदम मिट नही गया है पर सुधाकर बहुत दिन नहीं रहा। हाँ, एक यादगार उस पत्र की काशी में बहुत भारी है जिसके द्वारा ज्योतिष और संस्कृत भाषा के सिवा हिंदी का बहुत कुछ उपकार हुआ और होता है। वह काशी के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी हैं। आपके चाचा जी के हाथ में ज्यो ही डाकिये ने सुधाकर पत्र का पहला नंबर लाकर दिया त्यो ही घर के भीतर से उनको भतीजा होने की खबर मिली। आपने भतीजे का नाम उस पत्र के नाम पर सुधाकर रखा। सुधाकर पत्र को कोई संख्या हमने नहीं देखी और न उसकी भाषा का ही कुछ नमूना हमें मिला यदि मिलता तो अच्छा होता क्योंकि यह जानने की बात है कि लल्लू जी से एकदम ४८ साल बाद जो हिंदी लिखी गई वह किस ढँग की थी।

अन्त को स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र जी के समय मे हिंदी के भाग्य ने पलटा खाया। उन्होंने हिंदी को उत्तम बनाने की चेष्टा की। कई एक अच्छी अच्छी पोथियाँ लिखकर उन्होंने सुन्दर हिंदी का एक नमूना खड़ा किया। फिर और लगातार कई पुस्तकें उन्होंने लिखकर उसको पुष्ट किया। यद्यपि स्वर्गीय

उर्दू मे दो एक शब्द संस्कृत के मिला देने के लिये की या विशुद्ध हिंदी न लिखने के लिये की अथवा संपादक के लिंग-ज्ञान पर की। हमारी समझ में संपादक बहुत दोषी नही। एक तो वह दक्षिणी थे दूसरे उस समय तक हिंदी का कोई ऐसा नमूना मौजूद न था जिसके अनुसार वह लिखते और उनकी भाषा उर्दू न कहलाकर हिंदी कहलाने के योग्य होती।

यह ठीक है कि श्री लल्लूलालजी के प्रेम-सागर की भाषा उनके लिये आदर्श हो सकती थी। पर लल्लूजी के परिश्रम की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उनकी भाषा उनकी पोथी ही मे रह गई आगे और पोथियाँ लिखकर किसी ने उनकी चलायी हुई भाषा की उन्नति नही की। लल्लूजी ने उर्दू वालो के साथ साथ ही प्रेम-सागर लिखकर हिंदी मे गद्य लिखने की रीति चलायी। दुःख की बात है कि उर्दू की उन्नति तो होती रही पर हिंदी की कुछ न हुई। लल्लूजी के प्रेम-सागर की भांति दस पांच और पोथियाँ हिंदी में लिखी जातीं तो "बनारस अखबार" को हिंदी लिखने का एक अच्छा मार्ग मिलता पर लल्लूजी के बाद कोई ६० साल तक उस ओर ध्यान ही नही दिया गया। अंत को स्वर्गीय बाबू हरिश्चंद्र जी ने मरी हुई हिंदी को फिर से जिलाया।

जिस प्रकार गद्य लिखने की नींव आधुनिक हिंदी में उर्दू गद्य मे दो एक साल ही पीछे पडी वैसे ही समाचार पत्र की नींव दो चार साल बाद ही पड गई थी। पर दुःख यह है कि उसकी मजबूती की ओर किसी ने ध्यान नही

वुध तजहि मत्सर, नारिनर सम होहिं, जग आनद लहै।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृत वानी सब कहै॥

इस सिद्धात मे राजनीति, समाजनीति सब हैं। साथ साथ धर्म नीति भी है और उसमे बाबू हरिश्चद्रजी का जो कुछ मत था वह भी झलकता है। अर्थात् "हरिपद मति रहै" और "नारि नर सम होहि" का गगा-मदार का जोडा भी साथ है।

सरकार ने भी कवि-वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति सबधी और दूसरे लेख स्वाधीनता भाव से लिखने लगा तो बडा आदोलन मचा। यद्यपि हाकिमों मे बाबू हरिश्चद्र की बडी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मजिस्ट्रेट किये गये थे। तथापि वह निडर होकर लिखते रहे, और सर्वसाधारण मे उनके पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चद्र के ललित लेखों ने लोगो के जी मे ऐसी जगह कर ली थी कि कविवचन-सुधा के हर नबर के लिये लोगों को टकटकी लगाये रहना पडता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशसा करते थे। दुःख की बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगुलखोर लोगो की दृष्टि उस पर पडी। उन्होंने कविवचन-सुधा के कई एक लेखो को राजद्रोह पूरित बताया। दिल्लगी की बातों को भी वह लोग निंदा-सूचक बताने लगे। मरसिया नाम का एक लेख उक्त पत्र मे छपा था यार लोगो ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया

राजा लक्ष्मणसिंह महोदय ने स० १९२० वि० मे शकुंतला का हिंदी अनुवाद कर के फिर एक अच्छी हिंदी का नमूना उपस्थित किया था पर उसका उस समय अधिक प्रभाव नही हुआ। कहा जा सकता है कि हिंदी नहीं थी बाबू हरिश्चन्द्र ने उसे पैदा किया। यदि हिंदी होती तो राजा शिवप्रसाद नागरी अक्षरो के बडे प्रेमी होकर उर्दू मे क्यो उलझे रहते?

हिंदी का एक उत्तम रूप खडा होते ही बाबू हरिश्चन्द्र जी को अखबार का ध्यान आया। इसी से स० १९२५ मे उन्होने कविवचन-सुधा मासिक पत्र के आकार मे निकाला। उसमे उस समय प्राचीन कवियो का काव्य प्रकाशित होता था। कवि देव का अष्टयाम, दीनदयालु-गिरि का अनुराग बाग, चद्र का रासा, मलिक मुहम्मद की पद्मावत, कबीर की साखी, बिहारी के दोहे, गिरिधरदास का नहुष-नाटक, गुलिस्ता का अनुवाद आदि पुस्तके उसमे छपने लगी। ससार मे सदा पद्य ही से अच्छी भाषाओ के गद्य साहित्य का जन्म होता है उन्हे गद्य की सुध आगई उन्होने देखा कि गद्य में भारत के सब प्रात बढ रहे हैं केवल हिंदी वाले ही बेसुध हैं। इतना विचार आते ही उन्होने कविवचन-सुधा पाक्षिक और फिर साप्ताहिक किया। राजनीति, समाजनीति आदि पर लेख लिखने आरभ किये। उसका सिद्धात वाक्य यह था—

"खलगनन सों सज्जन दु खी मति होंहि, हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूट, स्वत्व निज भारत गहै, कर दु ख बहै॥

बुध तजहि मत्सर, नारिनर सम होहि, जग आनंद लहैं।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृत बानी सब कहैं॥

इस सिद्धांत में राजनीति, समाजनीति सब है। साथ साथ धर्म नीति भी है और उसमें बाबू हरिश्चंद्रजी का जो कुछ मत था वह भी झलकता है। अर्थात् "हरिपद मति रहै" और "नारि नर सम होंहि" का गंगा-मदार का जोड़ा भी साथ है।

सरकार ने भी कवि वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति संबंधी और दूसरे लेख स्वाधीनता भाव से लिखने लगा तो बड़ा आंदोलन मचा। यद्यपि हाकिमों में बाबू हरिश्चंद्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मजिस्ट्रेट किये गये थे। तथापि वह निडर होकर लिखते रहे, और सर्वसाधारण में उनके पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चंद्र के ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कविवचन-सुधा के हर नंबर के लिये लोगों को टकटकी लगाये रहना पड़ता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशंसा करते थे। दुःख की बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कविवचन सुधा के कई एक लेखों को राजद्रोह पूरित बताया। दिल्लगी की बातों को भी वह लोग निंदा-सूचक बताने लगे। मरसिया नाम का एक लेख उक्त पत्र में छपा था यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया

कि आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बंद हो गयी। शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर केम्पसन साहब ने बिगडकर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चंद्र जी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर यहाँ यार लोगों ने जो रंग चढा दिया था वह न उतरा यहाँ तक कि बाबू हरिश्चंद्र की चलाई "हरिश्चंद्र चंद्रिका" और "बाल बोधनी" नाम की दो मासिक पत्रिकाओं की सौ सौ कापियाँ प्रांतीय गवर्नमेंट लेती थी वह भी बंद को गयी।

इन फिकरेबाज लोगों के दम में हाकिम कभी कभी किस प्रकार आ जाते हैं इसकी एक उन्हीं दिनो की दिल्लगी सुनने के योग्य है। हमारे वर्तमान महाराज सप्तम एडवर्ड उस समय प्रिंस आफ वेल्स थे और श्रीमान ने (भारत मे) पदार्पण किया था। राज भक्ति की तरंगों से भारतवर्ष भारत महासागर की तरह तरंगित था कविवचन-सुधा ने श्रीमान के स्वागत में "पाद्यार्घ्य" नाम की एक कविता लिखी थी। सब लोग जानते हैं कि पाद्यार्घ्य कितनी शिष्टता का बर्ताव है और हिंदुओं की कैसी पुरानी चाल है। तथापि यार लोगो ने हाकिम को समझाया था कि उसका अर्थ जूतियों से पीटना भी है। यार लोगों के ऐसे ही गुणों पर मोहित होकर गोस्वामी तुलसीदास अपने राम चरितमानस में इनकी बहुत कुछ वंदना कर गये है।

हाकिमों का ऐसा हलका बर्ताव देखकर निर्भीक हरिश्चंद्र ने आनरेरी मजिस्ट्रेटी का भार उसी दम अपनी गरदन पर से उतार

कर फेंक दिया और फिर हाकिमों से मिलने जुलने या उनकी दरबार-दारी करने का नाम न लिया। इसके बाद कवि-वचन सुधा का नाम सर्वसाधारण में खूब बढा। उसको बहुत से अच्छे लेखक मिले थे। उनमें से कई एक से नाम हमें मालूम हुए हैं। श्रीराधाचरण गोस्वामी, बाबू गदाधरसिंह, बाबू काशीनाथ खत्री, लाला श्रीनिवास दास, प० बिहारीलाल चौबे, प० सरयू प्रसाद, बाबू तोताराम वर्मा, मुंशी कमलाप्रसाद, प० दामोदर शास्त्री, बाबू ऐश्वर्य्य नारायण सिंह, बाबू सुमेरसिंह, बाबा संतोष सिंह, बाबू गोकुल चद्र, बाबू नवीनचद्र राय। पत्र कुछ देर से निकलता था कारण यह कि उस समय समय पर पत्र निकालने का अभ्यास लोगों को नहीं पडा था तथापि बाबू हरिश्चद्र जी ने समय पर निकालने के लिये उक्त पत्र प० चिंतामणि राव धडफले के हवाले कर दिया। पत्र समय पर निकलने लगा पर पीछे हरिश्चद्रजी ने लिखना छोड दिया इसमे पत्र का प्राण निकल गया। इसके अतिम नबर हमने भी देखे हैं। साररहीन से होते थे। कुछ दिन व्यास रामशकर शर्म्मा भी इसके अवैतनिक सपादक थे। स० १९४० में इसके अध पतन का समय आ गया। लार्ड रिपन का जमाना था। इलबर्ट बिल का आदोलन हुआ। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद ने उसका विरोध करके स्वदेश वासियो की दृष्टि से अपने को गिराया था। कवि-वचन सुधा ने राजा शिवप्रसाद का साथ दिया इससे वह भी गिरा। यहाँ तक कि स० १९४२ वि० में वह पत्र बद होगया। उसी

साल बाबू हरिश्चन्द्र का देहान्त हुआ था। दूसरे हिंदी पत्रों ने बाबू साहब के शोक में महीनों तक काला बार्डर देकर लेख छापे, पर इस पत्र ने अपने जन्मदाता के लिये एक कालम भी काला न किया।

दमयंती का चंद्रोपालंभ

[आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी]

राजा नल की अद्भुत रूपराशि, गुणावलि, बल, प्रभुत्व, दानशीलत्व आदि सुन कर विदर्भ-देश के राजा भीम की कन्या दमयंती उस पर आसक्त हो गई। उसने अपने मन में यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं किसी के साथ विवाह करूँगी तो नल ही के साथ करूँगी। उधर एक हंस से दमयंती के रूपलावण्य की प्रशंसा सुन कर नल भी उस पर मोहित हो गया। हंस ने दूतत्व किया और दमयंती के पास जाकर उसके नल-विषयक अनुराग को और भी बढ़ा दिया। उसने दमयंती से यह भी वादा किया कि उपाय भर मैं तुम दोनों का विवाह करा दूँगा।

हंस के चले जाने पर दमयंती दिन-रात नल का चिंतन करने लगी। वह बहुत कृश हो गई, खाना-पीना बहुत कुछ छूट गया, दुनिया की और सभी बातों से उसकी विरक्ति हो गई। वियोगविषयक कवि-समय-सिद्ध आपदाओं ने एक मात्र उसी का सहारा ले लिया। संसार में योग हो जाने पर, वियोग की घटना होती है। पर श्रीहर्ष की सृष्टि में नल से योग होने के पहले ही दमयंती पर वियोग विपत्ति के बादल फट पड़े। उसे उन्माद सा हो गया। वह विलाप करने और आकाश पाताल

के कुलावे मिलाने लगी। एक रात को जो उसे षोडश कलाओं से पूर्ण, शिशिरवर्षी, शीतकर दिखाई दिये तो उसका दुःख दूना हो गया। उसने चद्रमा की बडी निंदा की। पर राहु के लिए कहा—"बड़ा बहादुर है, बडा परदुःख-कातर है, पापी चद्रमा को खा जाता है। परोपकारव्रती हो तो राहु जैसा हो, वियोगविधुराओं को बचाने की बेचारा बड़ी चेष्टा करता है।" इस प्रकार कहते-सुनत जब उसका स्मर-ताप-नामक मर्ज बहुत बढ गया तब वह अपनो रोती हुई सखी से बोली—

सुन, मैं तुझसे गणित शास्त्र की बात कहती हूँ। उसके आचार्यों ने यह तो लिख दिया कि देवताओं का युग ब्रह्मा के इतने दिनों के बराबर होता है और मनुष्यों का इतने के। पर ये कम-अक्ल आचार्य यह लिखना भूल ही गये कि सु-योगियों का एक दिन वि-योगियो के कितने युगो के बराबर होता है। इन्हे यह भी तो लिख देना था कि जो विरही नहीं हैं उनका एक क्षण विरहीजनो के एक युग के बराबर होता है। मगर इन बूढों में इतनी बुद्धि कहाँ? इसी से इनकी यह युगादि-गणना अधूरी ही रह गई।

सती अपने पिता दक्षप्रजापति के यज्ञ के अग्नि-कुंड मे गिरकर जल मरीं और फिर उन्होने हिमालय के घर जन्म लिया। भोले भाले लोग समझते हैं कि हिमालय की महिमा ही के ख्याल से सती हिमालय की सुता बनीं। पर यह बात सरासर गलत है। हिमालय पर देवताओं का वास है, वह रत्न-खानियों

का स्वामी है, उस पर सैकड़ों दिव्य औषधियाँ उगती हैं, यह जान कर सती उसके घर नहीं पैदा हुईं। असल बात यह है कि स्मरागिन की असुम ज्वाला से सतप्त होने के कारण, विवश होकर, उन्हें हिमवान् के घर जन्म लेना पड़ा। उन्होंने सोचा कि मेरे शरीर का यह दाह हिम अर्थात् वर्फ क आकर हिमालय ही के आश्रय से शांत हो सकता है, और किसी तरह नहीं। इसी से उन्हें वर्फिस्तान ढूँढना पड़ा। इसमें संदेह नहीं। एक बात मैं तुमसे और भी कहना चाहती हूँ। महादेवजी के मस्तक पर जो आग जल रही है वह, जानती है, क्या चीज है। वह उनका तीसरा नेत्र नहीं। वह तो सती ही के विरह की आग की धधकती हुई लपट है। समझी!

समय कुछ ऐसा आ गया है कि लोगों की अक्ल ही ठिकाने नहीं। वे समझते हैं कि लौकिक आग से जल जाने पर ही सब से अधिक जलन होती है। लोगों की इस तरह की समझ पर तर्स आता है, क्योंकि उनकी इस समझ में कुछ भी सार नहीं। सब से अधिक जलन विरहाग्नि से जलने पर ही उत्पन्न होती है। इसे ध्रुव सत्य समझ। यदि ऐसा न होता तो विधवा स्त्रियाँ, अपने पति के शव के साथ, अगले जन्म में उससे मिलने के लिए, खुशी-खुशी जीती ही क्यों जल मरतीं? चिता की लौकिक आग को तो वे कुछ समझती ही नहीं। उसके सहारे—उसमें कूद कर—वे अपनी विरहाग्नि की व्यथा से बचना चाहती हैं, क्योंकि वह व्यथा साधारण आग में जल जाने

की व्यथा से बहुत ही अधिक असह्य होती है।

भले आदमी पापिष्ठों को शरण नहीं देते, उन्हें अपने घर मे नहीं रखते। वे पुण्यात्माओं ही के पक्षपाती होते हैं और उन्हीं को अपने आश्रय मे रखते हैं। पर इस दुर्विनीत चद्रमा की चाल बिलकुल ही उलटी है। सखी, जरा इसकी दुष्टता को तो देख। यह कुमुदों का सखा है, इसको अनेक किरणे कुमुदों को छूकर विमल, विशुद्ध, शीतल अतएव तापहारक हो जाती हैं। पर उन्हीं को यह निकाल बाहर करता है। और रखता किनको है? विरहिणी वधुओं के वधजनित पाप पक से कलकित किरणों को! उन्हीं दु सह पापिनी किरणों से यह मेरा स्पर्श करके मुझे पीड़ित करता है। भला इसके इस दुर्विनय—इस दौरात्म्य—का भी कुछ ठिकाना है!

सखी, जरा इस दुरात्मा चद्र से यह तो पूछ कि तूने अबलाओं को जला कर खाक करने का गुरुमत्र किस गुरु से सीखा है। जिस समय तू महासागर के भीतर डूबा पडा था उस समय क्या वहाँ जलते हुए बडवानल से सीखा था? अथवा समुद्र से निकलने के बाद, महादेव के मस्तक पर पहुँचने पर, क्या उनके गले में स्थित कालकूट से सीखा है? इन्हीं दोनो में से किसी एक से उसे दूसरों को जलाने की शिक्षा जरूर मिली होगी। मेरा अनुमान तो यही कहता है।

अच्छा, सखी, यह बता कि अँधेरी रात मे जो अधिक तारे देख पडते हैं सो क्यों? और ये तारे हैं क्या चीज? तू

शायद इस भेद को न जानती हो। इसलिए मैं ही बताती हूँ। यह चद्रमा बडा पापी है। इसने हजारो निरपराध नारियो की हत्या की है। और हत्यारे को सजा जरूर ही मिलती है। इस कारण धर्मराज इसकी टॉग पकड कर पहले तो इसे खूब चक्कर देता है, फिर कृष्ण पक्ष की रात्रिरूपिणी शिला पर आकाश से पटक देता है, और कहता है, ले अपने किये का फल भोग। इस तरह पछाडे जाने पर इसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं—नष्ट होकर यह चूर-चूर हो जाता है। ये तारे इसी चाडाल चद्रमा के शरीर के टूटे हुए टुकडे या कण हैं। अन्यथा अँधेरी रात मे ये तारा-नामक अनत चमकीले पिंड और कहाँ से आ सकते है ?

सखी, तू जरा देर के लिए मेरी वकालत कर दे। इस दुर्विनीत शशलाछन से यह कह कि जन्म तो तेरा परम कुलीन रत्नाकर में हुआ है और निवास स्थान तुझे मिला है देवाधिदेव महादेव के मस्तक पर। ऐसा होने पर भी तू क्यों इतना जघन्य कर्म कर रहा है ? क्यो तू निर्बल नारियों की हत्या कर करके पाप के घड़े भर रहा है ? यदि तुझे महत्ताशाली महासागर से उत्पन्न होने का कुछ भी ख्याल नहीं तो क्या तू इस बात को भी भूल गया कि रहता कितने उच्च और कितने पवित्र स्थान पर है ? बडे कुल मे जन्म लेकर और परमपवित्र स्थान मे रह कर भी तू ने कुटिलता न छोडी ! तुझ निर्लज्ज का शतवार धिक्कार !

रे कलकी चद्र ! तू तो चिरकाल तक उस समुद्र के भीतर था जिसे मदराचल ने मथा था। अच्छा तो तू उस पर्वत की कठोर ठोकरों से वही क्यों न चूर्ण हो गया ? और वच ही गया था तो तुझ सहित समुद्र को पी जानेवाले अगस्त मुनि की जठराग्नि से उनके पेट के भीतर ही, तू क्यों न जीर्ण हो गया ? वात यह है कि अधर्मियो और पापियो की वडी उम्र होती है। वे सहज मे नहीं मरते।

रे जड ! तू ने शायद यह सुन रक्खा होगा कि मरने पर प्राणियों का मन तुझमें ही लीन हो जाता है। ("मनश्चन्द्रे निलीयते") श्रुति के इस विधान ही को ध्यान मे रखकर क्या तू मुझे मार डालना और मेरे मन को ले लेना चाहता है ? यदि तेरा यही मतलव हो तो मुझे तेरी मूर्खता पर हँसी आती है। क्योंकि मेरे मृत मन के सवध मे महापडित मन्मथ ने उस श्रुति की व्याख्या और ही तरह कर रक्खी है। उसने अपने भाष्य मे लिख दिया है कि मरने पर दमयती का मन राजा नल के मुखचाद्र मे विलीन हो जायगा। वही उसका चद्र है। सो लीन होना तो दूर रहा, मेरा मन तुझ पापी के पास तक फटकने वाला भी नहीं। मेरे मन के विपय मे श्रुति का यह अर्थ अपवादात्मक है। समझा ! तू जिस प्रकार के यश उपार्जन कर रहा है, कर। उसकी घोपणा भी तू नकारे की चोट ससार मे कर। जिस जलनिधि वश में तेरा जन्म हुआ है उसे खूब उज्ज्वल कर। वधू-वध सवधी पाप भी यथेच्छ वटोर। पर एक

बात मत कर। मुझे मार भले ही डाल, कदर्थना मेरी न कर—व्यर्थ ही मुझे पीडा न पहुँचा। रात को सूर्य्य के न रहते तू कपट-सूर्य्य बनता है। अच्छा, बन। मुझे पीडित करले—मुझे जी भरकर जला ले। क्या रात ही बनी रहेगी ? प्रात काल होगा ही नही ? अवश्य होगा। तब मैं, इन्ही आँखों से, प्रकृत सूर्य्य के द्वारा तेरी भानुता का झूठा घमड चूर होते देखूँगी।

हरिणलाञ्छन ! लोग कहते हैं कि तू अमृत (अमृतमय) है और भूतपति (शकर) के आश्रय मे रहता है—उनका शिरोमणि है। इस दशा में रात के समय तुझे प्रज्वलित देख देखनेवालों के सिर विस्मय से जो हिल उठे तो ठीक ही है। क्योंकि जो अमृतमय है वही यदि अग्निमय हो जाय तो विस्मय होना ही चाहिए। मेरे लिये तो तू सचमुच ही बडा भयकर है। यदि अमृत ही (वे मरा हुआ अर्थात् जीवित ही) प्राणी, भूतपति (पिशाचों के स्वामी) का आश्रय लेकर अपनी भूतता प्रकट करे—दूसरों के शरीर मे प्रविष्ट होकर उसका सिर हिलाने—तो उसका यह कर्म अवश्य ही अद्भुत समझा जायगा। इसी से मैं तेरी यह विस्मयजनक चेष्टा देखकर डर रही हूँ।

अरी सखी ! कानो मे खुसे हुए इन तमाल-दलों को तू चद्रमा के हिरन को क्यो नहीं खिला देती ? खिला, खिला। इन्हें उसके आगे डाल दे। ये नये-नये कोमल पत्ते खाकर वह हिरण यदि कुछ मोटा हो जाय और अपनी मुटाई से चद्रमा के कुछ अश को ढक ले तो जरा देर के लिए मुझे दम लेने को तो

फुरसत मिले। खेद तो इस बात का है कि समय पर बुद्धि काम नही देती। अवसर निकल जाने पर वह स्फुरित होती है। अभी-अभी, उस दिन, अमावस्या हस्तगत होकर निकल गई। याद ही न आई। नहीं तो मै उसे बलवत् पकड रखती। अच्छा, अब के आने दे। अब मै उसे न छोड़ूगी, पकड रक्खूगी। ऐसा करने से इस चद्रमा का पुनरागमन रुक जायगा। मैं इस पापी का मुँह नही देखना चाहती।

भला यह मेरा चकोर-पक्षी यदि अगस्त्य जी का शिष्य हो जाय और समुद्र पान करना सीख आवे तो कैसा। यदि इसे वह विद्या आ जाय और वह समुद्रपायी हो जाय तो चद्रमा को पी जाना इसके लिए कौन बडी बात होगी। अभी तो यह उसकी तरफ टकटकी लगाकर केवल देखा करता है। फिर तो, उसकी किरणो को पी जाना, इसके लिए पानी के दो-चार छीटें मुख मे रख लेने के सदृश सहज काम होगा।

ओ सखी। मेरी आली! लोहे का एक बडा सा हथौडा तो ले आ! लाई? अच्छा, अब मेरा आईना आँगन मे रख दे। फिर देखती रह। ज्योही मेरे इस शत्रु शशाक का प्रतिबिब आइने में देख पडे त्यो उस पर हथौडे की एक चोट ऐसी मार की उसका काम वही तमाम हो जाय। मेरे दिन इतने खोटे हैं कि ससार मे मेरी सहायता करने वाला कोई भी नहीं। समुद्र ही को देख। वडवानल जैसी भीषण आग को तो वह पेट में डाले बैठा है। पर चद्रमा को उसने पेट के बाहर निकाल

फेंका, जैसे वह भी उसके लिए कालकूट ही का भाई हो। अच्छा, यदि समुद्र को उसका रख छोडना सहन न हुआ तो महादेवजी ही उसे कालकूटवत् पी जाते। पर उस विषम विष को तो वे पी गये और इसे छोड दिया। सो उन्होंने भी मुझ अभागिनी की सहायता न की। वे तो सर्व समर्थ हैं। चाहते तो चद्रमा को भी गले के भीतर रख लेना उनके लिए कोई बडी बात न थी।

एक बात बडे ही आश्चर्य की है। समुद्र से निकले हुए काले रग के कालकूट विष को अकेले महादेवजी ही ने पी लिया था। सो उन्ही एक के पी लेने से वह समूल नष्ट हो गया। अब वह कहीं देखने को नही मिलता। उसका अस्तित्व ही लोप हो गया। पर वही उसी समुद्र से निकले हुए इस सफेद रग के विष (चद्रमा) को देख। बार-बार उसे पीकर देवता उसका क्षय कर देते हैं और बार-बार वह फिर फिर से उदय हो आता है। उसका नाश ही नही होता। क्यो यह अचभे की बात है या नहीं ?

षोडश कलाओं से पूर्ण पूरा चद्रमा तो महापापी है, क्यो कि वह विरहियों के समुदाय का सदा ही वध किया करता है। वधिक पापात्मा न गिना जायगा तो कौन गिना जायगा ? पर देवताओं के द्वारा अमृत के पी लिये जाने पर क्षीण हुआ चद्रमा कदापि पापी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वधिक-कार्य्य पौर्णमासी ही के चद्रमा के द्वारा होता है, और किसी तिथि के क्षीण चद्रमा द्वारा नहीं। क्यों, बात ठीक है न ? परतु महज्ज्ञानी

ज्योतिषियो की मूर्खता को तो देख! वे उलटी ही हाँकते हैं। वे कहते हैं, पूर्ण चद्र शुभ ग्रह है और क्षीण चद्र पापग्रह। कैसी दिल्लगी है।

क्यों सखी क्या तू जानती है कि कृष्णपक्ष का नाम बहुल क्यो है? कारण यह है कि विरहिजन इस पक्ष का बहुत आदर करते हैं। यह पक्ष उनके बहुल सम्मान का पात्र है इसी से इसका यह नाम पडा। अच्छा, अमा (अर्थात् अमावस्या) को यह नाम क्यों मिला? इसलिये कि उस रात को (चद्रमा का सर्वथा अभाव होने के कारण) विरहियो ने अपनी अमा (अमिति न मापी जाने योग्य) श्रद्धा का पात्र समझा है। बहुत आदर का पात्र होने के कारण कृष्णपक्ष को बहुल का और अमित आदर-सत्कार का पात्र होने के कारण अमावस्या को अमा का खिताब विरही जनों ही का दिया हुआ है। क्यो मेरा यह कथन ठीक है न?

आज तक राहु ने सैकडो, हजारों दफे पकड पकड कर चद्रमा को अपने मुँह मे रक्खा होगा। पर समझ मे नहीं आता वह, हर दफे उसे छोड क्यो देता है। दही मे सने हुए मीठे मीठे सत्तुओ के गोले को मुँह मे रखकर भी भला कोई छोड सकता है। चद्रमा ठीक ऐसे ही गोले के समान है। हाँ, एक बात हो सकती है। बहुत सभव है, राहु को अपने शत्रु चक्रपाणि के गोल गोल चक्र का धोखा हो जाता होगा। इसीसे चद्रमा को लील कर भी वह छोड देता है। उसे डर लगता होगा कि कहीं

ऐसा न हो जो यह फिर मेरा कठ काट डाले। दोनो का सादृश्य ही इसका कारण जान पडता है—चद्रमा भी गोल और सफेद, सुदर्शन- चक्र भी गोल और सफेद। नहीं नहीं मेरा यह अनुमान ठीक नहीं। मुखके भीतर चद्रमा को पाकर भी राहु उसे अपनी इच्छा से कदापि न छोडता होगा। यह चद्रमा ही उसके गले की राह निकल भागता होगा। क्योकि गले के नीचे का भाग तो राहु के है नहीं, वह तो केवल शीश मात्र है। राहु के यदि पेट और आमाशय होता तो वह चद्रमा को उनके भीतर पहुँचा कर उसे जरूर हजम कर जाता।

इन पुराने पौराणिको के भोलेपन को हद नही। ये तत्त्व- दर्शी नहीं। किसी बात की तह तक पहुँचते ही नहीं। इनकी बुद्धि सदा ऊपर ही ऊपर चक्कर काटा करती है, भीतर धँसना जानती नही। इसी से ये लोग विष्णु को राहु का सिर काटने- वाला कहते हैं। यह और कुछ नहीं, इनके बुद्धिमाद्य का प्रखर परिणाम है। इन्हें चाहिए था कि ये भगवान मधुसूदन को लाखों विरहिणी नारियों का सिर काट लेने वाला कहते। क्योंकि अकेले एक राहु का कत्ल करके—उसके सिर को धड से जुदा करके—अनेकानेक अबलाओं का वध-साधन करने का द्वार मधुसूदन ही ने खोल रक्खा है। राहु का सिर वे यदि न काट डालते तो वह चद्रमा को लीलकर कबका उसे पचा गया होता। परतु शीर्ष मात्र रह जाने से वह चंद्रमा को नहीं पचा सकता। वह उसे खा तो जाता है, पर हर दफे वह उसके गले

के नीचे से निकल भागता है और वियोगिनी वनिताओं को हत्या करने के व्यापार में फिर पूर्ववत् लग जाता है। सो इस सारी हत्या का पातक विष्णु ही के सिर पडता है। इसी मे उन्हे राहु का सिर काटनेवाला न कहकर वियोग-विधुरा-वधुओं ही का सिर काटनेवाला कहना चाहिए। राहु के यदि जठराग्नि होती तो क्या आज तक यह चाडाल चद्र वच भी जाता और क्या वियोगिनी नारियाँ इस तरह बे-मौत मारी जाती ?

पुराने जमाने की बात कहती हूँ। बात निराधार नही। वेद मे भी उसका उल्लेख है। एक दफे महादेव जी ने मख रूपी मृग का सिर उडा दिया। यह बात देवताओ के सर्जन् जनरल अश्विनीकुमार को बरदाश्त न हुई। उन्होंने कहा—मैं ठहरा मन्मथ महाराज का मित्र और शिव जी ठहरे उनके शत्रु। अपने मित्र के शत्रु के काम मे विघ्न डालना मित्र का परम कर्तव्य है, यह बात राजनीति तक मे लिखी है। यही सोचकर अश्विनीकुमार ने उस मृग के सिर को धड से जोड कर फिर उसे जिला दिया। महादेव जी अपना सा मुह लेकर रह गये। सखी, तलाश तो कर। क्या वैसा सर्जन अब भी कही मिल सकता है ? मिले तो उसे बुला ला और राहु के सिर को उसके कबंध (केतु) के गले पर रखवा कर फिर उसे पूर्ववत कर दे।

यदि यह न हो सकता हो तो एक योजना और भी तो है। युद्ध में राजा नल जब अपने शत्रु का सिर काट देता है तब

उसके नि शीश कवध इस डर से ऊपर को उछलते—ऊपर को उडते—हैं कि वहाँ शायद मौत से वच जायँ। उसी समय राहु ही क्यो न दौड कर एक आध ऐसे कवध के गले से चिपक जाय और ताजे बहते हुए रुधिर को चूने के प्लास्टर के सदृश, दर्जे में लगाकर उसे दृढ कर दे। यह भी न सही एक युक्ति और भी हो सकती है जरा नाम राक्षसी को तू जानती होगी। वही जरा जिसने मगध नरेश शिशुपाल के शरीर के दो टुकडे को जोडकर एक कर दिया था। जरा उसी जरा के पास चली जा और पूछ कि तू केतु के कवव और राहु के सिर को भी, सिशुपाल के शरीर के दो टुकडो की तरह क्यो नही जोड देती ? उससे कह—"जोड दे। तुझे वडा पुण्य होगा।"

अच्छा सखी, मेरी तरफ से राहु से यह तो पूछ कि तू चद्रमा को निगलकर उसे छोड क्यों देता है। क्या तू उसे द्विजराज (ब्राह्मण भी द्विजराज कहाता है और चद्रमा भी) समझ कर जाने देता है ? क्या यह रियायत उसके द्विजराजत्व के कारण है ? यदि यही बात हो तो यह तेरी सरासर भूल है। यदि वह द्विजराज होता तो वारुणी (मदिरा भी वारुणी कहाती है और वरुण की दिशा—पूर्व दिशा—भी) का सेवन करके, पतित होने पर भी, फिर क्यों दिवलोक (स्वर्ग तथा आकाश) में दिखाई देता ? वारुणीसेवी पतित द्विजराज को क्या कभी दिवलोक की भी प्राप्ति हो सकती है ? अतएव यह चद्रमा कदापि

द्विजराज नही , कुछ और ही है। इसे निगल जाने मे तुझे कुछ भी सकोच न करना चाहिए।

अथवा, राहुजी, मैं ही तुझसे एक बात पूछती हूँ। पर पहले तुझे एक पुराने आख्यान की याद दिला देना चाहती हूँ। एक दिन की बात है कि गरुडजी के माँ बाप के घर, उनके स्वाभाविक खाद्य की सामग्री कुछ भी न रह गई और माँ-बाप बच्चों को भूखा देख सकते नही। इस कारण गरुड के बाप ने कहा—बेटा गरुड, जा म्लेछों ही का भोग लगा। बस, फिर क्या था, जो आज्ञा, कहकर लगे गरुड म्लेछों को खाने। दैवयोग से एक भ्रष्ट द्विज भी उन म्लेछो मे सम्मिलित हो गया था। बस जहाँ गरुड ने उसे मुँह मे रक्खा तहाँ रखने के साथ ही उनके गले मे आग सी लग गई। तब तत्काल ही उन्होंने उस द्विज को उगल दिया। सो, निगले जाने पर, सभव है, यह चद्रमा तेरे गले मे दाह पैदा करता हो और तू इसे द्विजराज समझकर, गरुड ही की तरह, उगल देता हो। यदि ऐसा होता हो तो इस दाह का कारण चद्रमा की द्विजराजता नही। इसका कारण तो इसका स्वभाव है। लाल मिर्च क्यो कडवी होती है? बात यह है कि कडवापन उसका स्वभाव है। इसी तरह दूसरों को व्यर्थ ही जलाना चद्रमा का भी स्वभाव है। देख न, मैं अबला हूँ और निरपराध हूँ। फिर भी यह मुझे जलाता है। अतएव द्विजराजता की शका दूर करके तुझे इसको नि शक खा जाना चाहिए।

अच्छा मैं तुझे बता दूँ कि च द्रमा का नाम द्विजराज क्यों हैं। यह सारी कृपा ब्रह्माजी की है। उनको छोडकर और किसे ऐसी बाते सूझ सकती हैं ? तू जानता ही है कि रुचि बदलने के लिए लोक में कभी-कभी चबेने की—दालमोट की—भी जरूरत होती है। यमराज ने ब्रह्माजी से चबेनी की योजना कर देने के लिए दरख्वास्त की तो वे बडे सोच मे पड गये। बडी देर तक सोचने के बाद उन्होंने कहा—अच्छा, विरहिणी गण का चर्वण करके ही तुम चबेने की साध पूरी कर लिया करो। इस पर यमराज ने प्रार्थना की कि महाराज मेरे मुँह मे दाँत नहीं रह गये। मुझे दाँत भी मिले। तब ब्रह्मदेव ने षोडश-कलाधारी चद्रमा की एक-एक कला को एक-एक डाढ का काम सौंप कर उसे द्विजराज बना दिया। इस प्रकार सोलह डाढों के स्वामी इस द्विजराज की सहायता से यमराज देवता विरहिणी बालाओं का चर्वण किया करते हैं। इसी से यह च द्रमा द्विजराज हुआ है। समझे ? (सस्कृत भाषा मे द्विज शब्द दाँत, विप्र और विहग—इन तीनों अर्थों मे आता है।)

सखी, मै अब थक गई। कहाँ तक इस चाडाल च द्र की क्रूरता का वर्णन करूँ। बस एक बात और। इसमें जो कालिमा देख पडती है यह क्या है ? इस सबध में मुझे तो दो कल्पनाये सूझती हैं। पहिली यह कि च द्रमा बहुत करके झष-केतन का झुलसा हुआ मुँह है। जब महादेवजी के कोपानल मे वह जलने लगा तब, जान पडता है, ब्रह्मा ने कृपा

करके उसे अधजला ही निकाल लिया। इसी से जो अंश उसका जल गया है वह काला पड गया है और उसी को लोग शश या कलङ्क कहते हैं। दूसरी कल्पना यह कहती है कि चन्द्रमा के ये दाग बहुत करके पाप को कालिमा होंगे। क्योंकि इसने आज तक असंख्य स्त्रियों का वध किया है। अतएव, यह कालिमा पापजात कालिमा भी हो सकती है।

श्रीराम की एक झलक

[श्री दिनेशचंद्र सेन]

रामचंद्र का चरित्र कुछ जटिल है। भरत, लक्ष्मण, सीता प्रभृति का चरित्र तुलना करने में रामचंद्र के चरित्र की अपेक्षा सरल है, और एक मात्र रामचंद्र के चरित्र के संपर्क से ही उनके चरित्र का विकास हुआ है। भरत और लक्ष्मण का भ्रातृत्व रूप से, सीता का सतीत्व रूप से, दशरथ का पितृत्व रूप से विकास हुआ है। अनेक दिशाओं से आकर जैसे नदियाँ समुद्र में गिर कर अपनी सत्ता को खो बैठती हैं उसी प्रकार रामायण की चरित्रावलिया भी नाना दिशाओं से राममुखी होकर आई हैं और रामचंद्र के चरित्र से जहाँ तक उनका संबंध है वहीं तक उनकी सत्ता और उनका विकास है अतएव रामचंद्र के साथ तुलना करने में और चरित्र न्यूनाधिक सरल हैं। किंतु रामचंद्र के चरित्र का सब के साथ संपर्क है, उन्होंने रामचंद्र में पुत्र रूप से प्राधान्य लाभ किया है और वे भ्राता के रूप से, बंधु के रूप से, स्वामी और प्रभु के रूप से हर प्रकार अग्रगण्य हैं। कई ओर से उनके चरित्र का विकास हुआ है और बहुत से विभागों में उनका चरित्र दर्शनीय है। उनके चरित्र

की कितनी ही उलझी हुई बातो को सुलझा कर देखने से वे जाने जा सकते हैं और कितनी जटिल रहस्य पूर्ण बातों की मीमासा किये बिना वे भली प्रकार समझ में नहीं आवेंगे। वे आदर्श पुत्र थे—उन्होंने कौशल्या से कहा था, "काम, मोह चाहे और किसी कारण ही पिता ने हमें वन जाने की आज्ञा दी हो, हम उसका विचार नहीं करेंगे, हम उसके विचारक नहीं हैं, हम उनकी आज्ञा पालन करेंगे। वे प्रत्यक्ष देवता हैं।" उन्हीं रामचद्र ने गगा के उस पार सघन वन मे वृक्ष के नीचे वास करते समय सजल नेत्रों से लक्ष्मण से कहा था कि—"लक्ष्मण, कहीं यह भी देखा है कि प्रमदा के वश होकर किसी पिता ने हमारे समान आज्ञाकारी पुत्र को परित्याग कर दिया हो? निश्चय ही महाराज कष्ट भोग रहे हैं किंतु जो धर्म त्याग कर काम की सेवा करते हैं उन्हे राजा दशरथ के समान कष्ट होना अवश्यभावी है।" जो सीता को "शुद्धाया जगती मध्ये" समझ कर विश्वास करते थे, जो उसके हरण होने पर शोक से अरुण नेत्र हो उन्मत्त को तरह फूल-पत्तो को आलिगन करते फिरते और—

"आगच्छ त्व विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव।"

"हे विशालाक्षि इधर आओ तुम्हारो कुटी सूनी पड़ी है।" कह कर रोते हुए व्याकुल होते थे, जो लका में जाकर "अशोक-वन मे सीता को स्पर्श करके यह वायु हमारे शरीर को स्पर्श कर रही है" कह कर पुलकाश्रु नेत्रों से ध्यानो के समान खड़े

रह जाते थे,—उन्हीं रामचद्र ने गलदश्रु नेत्रा, शोकशीर्णा और निरपराधिनी सीता से ऐसे निर्मम और कठोर वचन कहे थे कि, "लक्ष्मण, भरत, विभीषण अथवा सुग्रीव जिसे तुम्हारी इच्छा हो उसे वर लो। दशो दिशाएँ पडी हैं जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चली जाओ, अब हमसे तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है।" जिन्होंने वनवास की आज्ञा सुनकर कैकेयी से स्पर्द्धा पूर्वक कहा था कि—

"विद्धि मा ऋषिभिस्तुल्य विमल धर्ममास्थितम्।"

"हमें ऋषियों के समान विमल धर्म मे आश्रित समझो।" वे ही कौशल्या के निकट 'निश्वसन्निव कुजर" परिश्रात हाथी के समान रुकी हुई सासें छोडने लगे और सीता के अचल के पास जाकर उन्होने अपने मुख पर मलिनता का स्पष्ट चिन्ह प्रकट कर दिया। लक्ष्मण ने जब भरत के वध करने का सकल्प प्रगट किया तो उन्होंने उनसे कठोर वाक्यों में कहा था कि, "यदि तुम राज्य के लोभ से ऐसा कह रहे हो तो भरत से कहकर राज्य हम तुम्हे दिला देंगे" और जो वारबार यही कहते थे कि भरत हमे "प्राणापेक्षा प्रियतर" "प्राणों से भी प्यारे हैं" उन्होंने सीता से कहा था कि, "तुम भरत के सामने हमारी प्रशसा मत करना क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष दूसरे की प्रशंसा नहीं सह सकते।" भरत की भ्रातृ-भक्ति का अपूर्व परिचय पाकर वे सीता के विरह मे भरत की दीन और शोकातुर मूर्ति को नहीं भूले और पुष्पभारालकृता

पपातोरवती तरुराजि के समक्ष भरत की बातें स्मरण कर अश्रु त्याग करते थे और जब विभीषण अपने जेष्ठ भ्राता को परित्याग कर चला आया और सुग्रीव ने उसे अविश्वास्य कह कर उसकी निंदा की उस समय रामचंद्र ने कहा था कि, "बंधु, भरत के समान भाई इस संसार में तुम्हें कहां मिलेगा ?" और उन्होंने वनवास के अंत में भरद्वाज के आश्रम से हनूमान को नंदिग्राम भेजते समय यह कहा था कि 'हमारे आने का समाचार सुन कर भरत के मुख पर कोई विकार होता है या नहीं, यह अच्छी तरह देखना।' इस प्रकार बहुत सी उलझनों ने उनके चरित्र को जटिल कर दिया है।

रामायण के पाठकों को हम एक विषय में सावधान होने का अनुरोध करते हैं। नाटक और काव्य दो अलग अलग चीजें हैं। ग्रीक वालों के मतानुसार नाटक में वर्णित घटनावली ऐसी नहीं होनी चाहिए जिसका अभिनय तीन दिन से अधिक में हो। इस तीन दिन के घटना वर्णन में चरित्र विशेष का एक भावापन्न करना नितांत आवश्यक है, कौन सी बात किसके मुख से निकलेगी, लेखक को उसे बड़े विचार पूर्वक लक्ष्य करके नाटक की रचना करनी होती है। चरित्रों का जहां तक विशेषत्व है, लेखक को उन्हें उसी रेखा के मध्य में रखकर संक्षेप से संकलन करना होता है किंतु जिस काव्य की घटना जीवनव्यापिनी होती है उस काव्य के चरित्रों

को नाटकों की रीति में विचार करना उचित नहीं है। इस दीर्घ काल में अनेक प्रकार के अवस्था चक्रों में पड कर चरित्र के क्रिया कलाप और कथा वार्ताएँ विचित्र हो जाया करती हैं और यहा विशेष रूप से विचार करने की यही बात है कि ये समयोपयोगी है या नहीं? बडे महात्माओ के सारे जीवन में से दो एक घटनाओं वा उक्तियों को अलग करके उन पर प्रकाश डालने से वे भी तादृश सुंदर समझी जाकर विवेचित नही हो सकतीं। अवस्था के क्रमागत उत्पीडन को सहकर लोगों के साधारणत सात्विक गुणों से सपन्न होने पर भी उनमें दो एक जगह भाव का व्यत्यय होना स्वाभविक है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं मे रह कर रामचद्र ने जो कुछ किया या कहा उसे उनको जीवनो से अलग करके देखने पर वह दौर्बल्य सूचक दिखाई देगा, किंतु सब अवस्थाओं पर प्रकाश डाले जाने पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वह अनेक समय और ही प्रकार से दिखलाई पडेगा। यदि हम उनकी "दौर्बल्य-सूचक" उक्तियों को अलग कर दें तो वे हमारी सहानुभूति से बहुत ऊपर उठ जायँगे और हम उन्हें पकड कर छू भी नहीं सकेंगे। रामचद्र का चरित्र एक विशाल वनस्पति के समान है—वह कभी झुक कर भूमि को स्पर्श करता है पर उसका वह झुकना उसके नभस्पर्शी गौरव को कम नही कर सकता वरन् पार्थिव ज्ञातित्व का परिचय देकर हमे आश्वासन मात्र देता है। रामचद्र ने साधारणत उत्कृष्ट नीति का अवलबन

करके ही अपने चरित्र को अपूर्व श्रीसपन्न किया था—उनका कोई विचार या कार्य दूसरे का अनिष्ट करने की प्रवृत्ति से उत्थित नही हुआ था यहाँ तक कि वे वालि को भी कनिष्ठ भ्राता की भार्या हरण करने वाला चोर समझ कर सत्य सत्य विश्वास करते थे और इसलिए उसे उन्होंने दड भी दिया था। सुग्रीव का शत्रु उनका शत्रु था, उसके वध करने की अग्नि के सामने प्रतिज्ञा कर चुके थे और इस प्रतिज्ञा का पालन करना भी वे धर्म ही समझते थे। उत्तर-काड में वर्णित सीता के परित्याग मे भी देखा जाता है कि रामच द्र ने उसे अपना कर्तव्य समझ कर ही अवधारण किया था। अपने जीवन को पूर्णरूप से नैराश्यपूर्ण करके भी उसे उन्होंने प्रतिपालन किया था और इस घटना ने भी उनके चरित्र के सतेज पौरुष को ही जाज्वल्यमान कर दिया है। महाकाव्य के किसी गूढस्थल में उन्होंने किसी भारी सकट मे पड कर जो दो एक अधीर वाक्यों का प्रयोग कर दिया है उन्हे लेकर जगड्वाल मचाना और हिमालय की किसी शिला या वृक्ष में एकाध क्षतचिन्ह का आविष्कार करके पर्वतराज के महत्व को नष्ट करना ये दोनों एक ही बात है। पल्लवग्राही पाठकगण रामच द्र के चरित्र को वैसी समालोचना का भार स्वय ग्रहण करेंगे। वाल्मीकि-अकित रामच द्र का चरित्र अतिमात्रा मे जीवत है,—इस चित्र मे सुई चुभोने से मानो रक्तबिंदु निकलते है। यह चरित्र छाया

अथवा धूमनिग्रह में परिणत होकर पुस्तक ही के भीतर का आदर्श नहीं रह जाता।*

संगीत के समान मानव-जीवन की भी एक मूल रागिनी होती है, गान जैसे अनेक प्रकार के स्वरों को अलापता फिरता भी अपनी मूलरागिनी से बाहर नहीं जाता, उसी प्रकार मानव चरित्र का भी अपने आप परिचय देनेवाली एक स्वतन्त्रता है। इसी स्वतन्त्रता को जीवन की मूल रागिनी कहते हैं और जीवन के कार्यकलाप को पूर्ण रूप में विवेचना करने पर ही उसका पता लगता है। चाहे कोई कुछ भी कहे पर अभिषेक के निमित्त आए हुए विशाल सभार की ओर अवज्ञा से दृष्टि डाल कर अभिषेक व्रतोज्ज्वल, पीताम्बर-धारी रामचन्द्र ने जिस समय यह कहा था कि—

"एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्॥"

"बहुत अच्छा, हम महाराज की प्रतिज्ञा पालन करने के लिए जटा-वल्कल धारण कर वन को जायगे"—उस दिन का वही चित्र रामचन्द्र का अमर चित्र है। यह अपूर्व वैराग्य की श्री ही उसका परिचय अच्छी तरह देती है। जब प्रजा सजल नेत्रों से उन्हें घेर कर खड़ी होगई थी उस समय उन्होंने उसे सान्त्वना देकर कहा था कि—

---

*अर्थात् यह कोई कपोल-कल्पित और मनोरंजक कहानी नहीं है जो पुस्तक पढ़ने के समय ही चित्त को प्रसन्न कर सके किंतु यह चरित्र लोगों का सच्चा और वास्तविक आदर्श है जिसे लोग अब भी प्राप्त कर सकते हैं।

"या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिना ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥"

"हे अयोध्यावासियो, तुम हमारा जितना आदर और स्नेह करते हो उससे अधिक भरत का करना, इससे हम तुमसे प्रसन्न होंगे।" यह उदार उक्ति ही रामचद्र के चरित्र की परिचायक है। लक्ष्मण के क्रोध और वितंडावाद को दूर कर सौम्यमूर्ति रामचंद्र ने अभिषेकशाला की ओर दृष्टि डाल कर कहा था कि—

"सौमित्रे योऽभिषेकार्थं मम सम्भारसम्भ्रम ।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थं सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रम ॥"

"हे लक्ष्मण, हमारे अभिषेक के निमित्त जो सब आयोजन हुआ है और जो सामग्री एकत्र हुई है वह सब हमारे अभिषेक की निवृत्ति के लिए हो।"

यह वैराग्यपूर्ण कंठध्वनि ही सब क्षुद्र बातो को दूर कर हमारे कानों मे गूँजती रह जाती है। जिस दिन रामचद्र के शरासन के तेज से रावण के कुंडल गिर गए थे और वह श्री-हीन हो गया था और उसे भागने के लिए मार्ग भी नही मिलता था, उस दिन रामचद्र ने क्षमाशील गभीर कठ से कहा था कि—"राक्षस, तुम हमारी बहुत सी सेना को नष्ट कर अब बिलकुल थक गए हो, हम थके हुए शत्रु से युद्ध नही करते। तुम आज घर जाकर विश्राम करो और कल फिर बलवान होकर हम से युद्ध करना।" उस महाबलि-प्रधान की महती

यज्ञभूमि मे धार्मिक प्रवर रामचद्र ने इस कठस्वर से जो स्वर्गीय क्षमा उच्चारण की थी वही उनकी चिर-अभ्यस्त कठ-ध्वनि है। रामचद्र को छोड कर ससार मे शत्रु से और कौन ऐसी बातें कर सकता है? प्रसगवश लक्ष्मण के कैकेयी की निंदा करने पर रामचद्र ने उन्हें पचवटी मे कहा था कि—"माता कैकेयी की हमारे सामने निंदा मत करो" यह उदार उक्ति ही रामचद्र के मुख को स्वभाविक उक्ति है और सीता से भी उन्होने इसी प्रकार कहा था कि—

"स्नेहप्रणयसम्भोगे समा हि मम मातर।"

"हमसे स्नेह और हमारा आदर करने मे हमारी सब माताएँ समान हैं।" और एक दिन जब लक्ष्मण के शक्ति लगने से वे मुमूर्षु हो गये थे और इधर दुर्धर्ष रावण उन्हे पकडने का उद्योग कर रहा था उस समय सिंहनी जिस प्रकार अपने बच्चे की रक्षा करती है उसी प्रकार रामचद्र ने भी लक्ष्मण की रक्षा की थी। उस समय रावण के बाणो ने रामचद्र की पीठ को छिन्न भिन्न कर दिया था पर रामचद्र उस ओर दृष्टि भी न डाल कर सजल नेत्रो से लक्ष्मण को छाती से लगाये हुए बैठे थे और बोले,—"तुम वन मे जैसे हमारे साथ आये हो हम भी आज उसी प्रकार तुम्हारे सग यमराज के यहा चलेंगे, हम तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकेंगे।" इस प्रकार के सैकडो चित्र रामायण-काव्य मे अमर हो गये हैं और सैकडों उक्तियो द्वारा वे चित्र स्वर्ग के आदर्श को पृथ्वी पर अकित करते

हैं और वहुत से पत्रों में वे चित्र और उक्तिया हमें इस आश्चर्य पूर्ण चरित्र के समुन्नत सौंदर्य को दिखा कर मुग्ध और विस्मित करते हैं। रामायण का पाठ समाप्त करने पर रामच द्र की यह उज्ज्वल और साधु मूर्ति ही हमारे मानस-पटल पर सदा के लिए अकित रह जाती है, इसके अतिरिक्त और कोई बात मन मे उदय नहीं होती। नितात सात्विक भाव से विचार करने पर भी सीता के विरह मे रामच द्र का प्रेमोन्माद यदि दुर्बलता-सूचक बोध होता है तो उससे यही सान्त्वना मिलती है कि रामच द्र के इस प्रेमोन्माद के समान मनोहर और कुछ नहीं है। इस समय वैराग्य की श्री नही दिखलाई पडती किंतु अपर्याप्त काव्य-श्री ने उस अभाव को पूरा कर दिया है और उसने निर्जन वन की रमणीय दृश्यावली मे विरहाश्रुओं के सयोग से समस्त विचित्र बाह्य सपद् को सदा के लिये सुदर बना रखा है।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

[आचार्य श्यामसुंदर दास]



समस्त भारतीय साहित्य की सब से बडी विशेषता उस के मूल मे स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर ससार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एव आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश मे सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं मे भी भारतीय प्रवृति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुख, उत्थान-पतन हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनद मे उनके विलीन होन मे है। साहित्य के किसी अग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुख के प्रबल घात प्रतिघात दिखाए

के रूप में। हिंदी में साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही होगया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है, क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोडी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मान-कर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्‌भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीर-जन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

भारत की सस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए

आकर्षक होती हैं, परंतु उसकी सुंदरतम विभूतियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती है। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड के लंबे लंबे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुंदरता की कल्पना कर लेते हैं, परंतु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की बसंत-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुंदर गोद में क्रीडा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे भरे उपवनों में तथा सुंदर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते है। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुंदर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्यरूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के सचार मे भी करते हैं। यह अखड भूमडल तथा असख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि, अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, सचालन आदि के सबध मे दार्शनिको अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य जगत् मे इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नही चल सकता, अत कविगण बुद्धिवाद के चक्कर मे पड़-कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किंतु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति सबधी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपो मे विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है, परतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिये प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरी रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तर कालीन विचारधारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परतु कुछ प्रेम प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देश गत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएं तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थाई जातीय मनोवृत्तियो का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द सघटन अथवा छंद-रचना तथा विविध आलकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अतर्निहित रहता है और आवश्यकता पडने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परतु साधारणत हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं परतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यजन होता है, केवल इस अभिव्यजन के ढग में अतर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे मे उन्हें व्यजित करने के लिए वर्णात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहां वर्णात्मक काव्य

अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेपकर पदो के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्व-पूण जातीय विशेपताओं से परिचित होने के लिए हमे उसके शब्द समुदाय पर ध्यान देना पडेगा, साथ ही भारतीय सगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होगी। वाक्य रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलकारो और अक्षर मात्रिक अथवा लघु गुरु मात्रिक आदि छद समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना सभव नहीं और दूसरे इनका सवध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार, और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इन मे जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पडती, क्योंकि ये सब बातें थोडी बहुत अतर से प्रत्येक देश के साहित्य मे पाई जाती हैं।

रामलीला

[प० माधवप्रसाद मिश्र]

आर्य्य वश के धर्म कर्म और भक्ति भाव का वह प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत् के बडे बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज मे परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अधकार का नाम तक न छोडा था,—अब कहाँ है? इस गूढ एव मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया।' नि सदेह हम भी उक्त प्रश्न का एक यही उत्तर देते हैं कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया'।

जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र के बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ कुछ चिन्ह वा नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अधे भारत के हाथ की लकडी है।

जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतल-स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरो में दबी हुई एक छोटी सी

किंतु सुशीतल वारिधारा वह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिसमें कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक! जरा विचार कर देखिए ऐसी अवस्था में कहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख-शांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। 'राम नाम' ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और 'राम नाम' ही हमारे अंधे घर का दीपक है।

यह सत्य है कि जो प्रवाह यहाँ तक क्षीण हो गया है कि पर्वतों को उथल देने की जगह आप प्रति दिन पाषाणों से दब रहा है और लोग इस बात को भूलते चले जा रहे हैं कि कभी यहाँ भी एक प्रबल नद प्रवाहित हो रहा था, तो उसकी आशा परित्याग कर देनी चाहिए। जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है और प्रतिकूल वायु चल रही है वह कब तक सुरक्षित रहेगा? (परमात्मा न करे) वायु के एक ही झोंके में उसका निर्वाण हो सकता है।

किंतु हमारा वक्तव्य यह है कि वह प्रवाह भगवती भागीरथी की तरह बढ़ने लगे, तो क्या सामर्थ्य है कि कोई उसे रोक सके? क्योंकि वह प्रवाह कृत्रिम प्रवाह नहीं है, भगवती वसुंधरा

के हृदय का प्रवाह है, जिसे हम स्वाभाविक प्रवाह भी कह सकते हैं।

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निसदेह उसकी शोचनीय दशा है और उससे अधकार-निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है, परतु यदि हमारी उसमे ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह दीप वही प्रदीप है जो पहले समय में हमारे स्नेह, ममता और भक्ति-भाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्माड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है जिसका प्रकाश सूर्य में विद्यमान है एव जिसका दूसरा नाम अग्निदेव है और उपनिषद् जिस के लिये पुकार रहे हैं—

"तस्य भासा सर्वमिद विभाति"।

वह प्रदीप भगवान् रामचद्र के पवित्र नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि राम नाम की क्षुद्र प्रदीप के साथ तुलना करना अनुचित है, परतु यह नाम का दोप नहीं है, हमारे क्षुद्र भाग्य की क्षुद्रता का दोप है कि उनका भक्ति-भाव अब हममे ऐसा ही रह गया है।

कभी हम लोग भी सुख से दिन बिता रहे थे, कभी हम भी भूमडल पर विद्वान और वीर शब्द से पुकारे जाते थे, कभी हमारी कीर्ति भी दिग्दिगतव्यापिनी थी, कभी हमारे जयजयकार से भी आकाश गूँजता था और कभी बड़े बड़े सम्राट् हमारे कृपाकटाक्ष की भी प्रत्याशा करते थे—इस बात

का स्मरण करना भी अब हमारे लिये अशुभचिंतक हो रहा है। पर कोई माने या न माने, यहाँ पर खुले शब्दों में यह कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि अवश्य हम एक दिन इस सुख के अधिकारी थे। हम लोगों में भी एक दिन स्वदेशभक्त उत्पन्न होते थे, हममें सौभ्रात्र और सौहार्द का अभाव न था, गुरु-भक्ति और पितृ-भक्ति हमारा नित्य कर्म था, शिष्ट-पालन और दुष्ट-दमन ही हमारा कर्त्तव्य था। अधिक क्या कहें,—कभी हम भी ऐसे थे कि जगत का लोभ हमें अपने कर्त्तव्य से नहीं हटा सकता था। पर अब वह बात नहीं है और न उसमें कोई प्रमाण ही है।

हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मंद भाग्य को पहले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदांग, न कोई इतिहास का अनुसंधान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा। सब अपनी क्षमता को भूल जायँगे। देश आत्मज्ञान-शून्य हो जायगा। इसलिए उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल से हमारे जीवन के साथ 'राम नाम' का दृढ़ संबंध किया था। यह उन्हीं महर्षियों की कृपा का फल है कि जो देश अपनी शक्ति को, तेज को, बल को, प्रताप को, बुद्धि को और धर्म्म को अधिक क्या—जो अपने स्वरूप तक को भूल रहा है, वह इस शोचनीय दशा में भी राम नाम को नहीं भूला है। और जब तक 'राम' स्मरण है, तब तक हम भूलने पर भी कुछ भूले नहीं हैं।

महाराज दशरथ का पुत्रस्नेह, श्रीरामचंद्रजी को पितृभक्ति, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रातृभक्ति, भरत जी का स्वार्थत्याग, वशिष्ठजी का प्रताप, विश्वामित्र का आदर, ऋष्यशृंग का तप, जानकीजी का पातिव्रत, हनुमानजी की सेवा, विभीषण की शरणागति और रघुनाथजी का कठोर कर्त्तव्य किसको स्मरण नहीं है? जो अपने "रामचंद्र" को जानता है वह अयोध्या, मिथिला को कब भूला हुआ है। वह राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियों के धनुर्बाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब राम नाम का स्मरण होता है और जब वह 'रामलीला' देखता है तभी यह ध्यान उसके जी में आता है कि 'रावण आदि की तरह चलना न चाहिए, रामादिक के समान प्रवृत्त होना चाहिए'।

बस इसी शिक्षा को लक्ष्य कर हमारे समाज में 'रामनाम' का आदर बढ़ा। ऐसा पावन और शिक्षाप्रद चरित्र न किसी दूसरे अवतार का और न किसी मनुष्य का ही है। भगवान् रामचंद्र देव को हम मर्त्यलोक का राजा नहीं समझते, अखिल ब्रह्मांड का नायक समझते हैं। यों तो आदरणीय रघुवंश में सभी पुण्यश्लोक महाराज हुए, पर हमारे महाप्रभु 'राम' के समान सर्वत्र रमणशील अन्य कौन हो सकता है? मनुष्य ही कैसा पुरुषोत्तम क्यों न हो वह अंत को मनुष्य है। इस-लिए आर्य्यवंश में राम ही का जयजयकार हुआ और है और जब तक एक भी हिंदू पृथ्वीतल पर रहेगा, होता रहेगा। हमारे

आलाप में, व्यवहार में, जीवन मे, मरण मे सर्वत्र 'राम नाम' का सबंध है। इस संबध को दृढ रखने के लिए ही प्रतिवर्ष रामलीला होती है। मान लीजिये कि यह सभ्यताभिमानी नवशिक्षितों के नजदीक खिलवाड है, वाहियात और पोपलीला है, पर क्या भावुक जन भी उसे ऐसा ही समझते हैं? कदापि नहीं। भगवान की भक्ति न सही—जिसके हृदय में कुछ भी जातीय गौरव होगा, कुछ भी स्वदेश की ममता होगी वह क्या इस बात को देखकर प्रफुल्लित न होगा कि पर-पद-दलित आर्य समाज में इस गिरी हुई दशा के दिनों में भी कौशल्यानंदन आनंदवर्द्धन भगवान रामचंद्रजी का विजयोत्सव मनाया जा रहा है?

आठ सौ वर्ष तक हिंदुओं के सिर पर कृपाण चलती रही परंतु 'रामचद्रजी की जय' तब भी न बद हुई। सुनते हैं कि औरंगजेब ने असहिष्णुता के कारण एक बार कहा था कि 'हिंदुओ! अब तुम्हारे राजा रामचद्र नहीं हैं, हम हैं। इसलिये रामचद्र की जय बोलना राजद्रोह करना है।' औरंगजेब का कहना किसी ने न सुना। उसने राजभक्त हिंदुओं का रक्तपात किया सही पर 'रामचद्र की जय' को न बद कर सका। कहाँ हैं वह अभिमानी? लोग अब रामचद्रजी के विश्व-ब्रह्मांड को देखें और उसकी मृण्मय समाधि (कबर) को देखें और फिर कहें कि राजा कौन है? भला, कहाँ राजाधिराज रामचद्र और कहाँ एक अहकारी क्षणजन्मा मनुष्य?

एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं, रामचरित्र को अनुकरण योग्य समझते हैं एवं रामचन्द्रजी को भक्ति-मुक्तिदाता मान रहे हैं, और एक वे लोग हैं जिनकी युक्तियों का बल केवल एक इसी बात मे लग रहा है कि "रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं वे सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं किंतु केवल किसी घटना और अवस्थाविशेष का रूपक बाँधके लिख दिए गए हैं।" निरकुशता और धृष्टता आज-कल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करने वाले वेबर साहब यदि यहाँ होते तो हम उन्हे दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मन में वध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।

आचरण की सभ्यता

[अध्यापक पूर्णसिंह]

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत की अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्रकला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थक जाती है, मूर्ति बनाने वाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्या के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सबके सब सभ्याचरण की भाषा

के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्या का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, वे नाम, वे निशान, वे मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौन रूपिणी सुगधि सदा प्रसारित हुआ करती है। इसके मोन स प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गर्मी से जले भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदा बाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदृतु से क्लेशातुर पुरुष इसकी सुगधमय अटल वसत ऋतु के आनद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भींग जाते हैं। आचरण के आनद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वय ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौन रूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती

और इतनी प्रभावशालिनी होती है कि उसके सामने क्या मातृ-भाषा, क्या साहित्यभाषा, और क्या अन्य देश की भाषा, सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह तुम्हारे हृदय की नाडी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मनके लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चद्रमा की मद मद हँसी का—तारागण के कटाक्ष-पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का—प्रभाव किसी कवि के हृदय में घुस कर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात् श्री केशवचद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी, यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखने वाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है। ६

प्रेम की भाषा शब्द रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भी भाषा शब्द रहित है। जीवन का तत्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-सयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लवे-लबे व्याख्यान से गढा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न केवल सत्सग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मद मद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

वर्फ का डुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर अति ऊँचा गौरवान्वित मालूम होता है, परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक कण परिमाणु समुद्र के जल में डुवा डुवा कर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल कर करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलशवाला मंदिर है। यह वह आम का पेड नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनाने में अनंतकाल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे, परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से और भी अधिक बदहज्मी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोल कर पी लिए जाय तो भी आदर्श-आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोंचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। वेद इस देश में रहने वालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं, परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत की भिन्न-भिन्न जातियों से संस्कृत भाषा न बुलवा सके, उन्हें न समझा सके,

न सिखा सके। यह बात हो कैसे ? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मंत्र फूंक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय करा सकता है। 6

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय, तो हिल जाय परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आंधी से उसके सिर के बाल तक का बांका न होना एक साधारण बात है। पुष्प के कोमल पंखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय, बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय, सूर्य्य की ज्योति से नेत्र खुल जाय, परंतु अंगरेजी भाषा का व्याख्यान (चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो) बनारस के पंडितों के लिए रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएं और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है, जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता है, मंदिर

का पुजारी स्वय ब्रह्मर्षि होता है, मसजिद का मुल्ला स्वय पैगम्बर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती हुई कन्या की रक्षा के लिए चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आप को गगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने मे रहे या जाय—तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में, और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता ? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण, दया का आचरण, क्या पशु और क्या मनुष्य, जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिन्ह है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक बार एक राजा जगल में शिकार करते करते रास्ता भूल गया, उसके साथी पीछे रह गए। उसका घोडा मर गया। बदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाडी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड रहे हैं। ठढी हवा उसकी हड्डियो तक को हिला रही है। प्रकृति ने, उसी घडी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बेसरो सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाडी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे नीचे उतार-चढाव को पार

करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इस में किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियां और साग उसके सामने रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्ता है। तू भी आपन्न जनों को आपत्ति मे उद्धार करने वाला है।

शिकारी कई रूसों का जार क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानिया बिक गई। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी तुच्छ है। यदि वह अपना दिल ही देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे, चाहे न लगे, परन्तु राजा के अतस् के मौन जीवन मे उसने ईश्वरीय औदार्य की कलम लगा दी। शिकार में अचानक रास्ता भूल जाने के कारण

जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया, तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं? क्या जगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन शनै शनै नया रूप धारण नहीं करता? जिसने शिकारी के जीवन दु खों को नहीं सहन किया, उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह मे किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में, पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भलीभाति गढती है—उस पर भलीभाति कुंदन करती है। जगई और मधई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-सबधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढता से कैसे ग्रहण करते? नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदास जी यदि कृष्णार्पण किए गए अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुदरता निरखने में लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो सूरसागर में प्रेम का वह मौन व्याख्यान—आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंदी भाव से ससार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता। यदि मेरी माडलिन वेश्या न होती, तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता

से ही ध्रुव को अटल बनाने मे वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी कि स्वय ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाती हैं। पवित्रता अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है, वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अतरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के सयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता किन किन कूपो से निकल कर वे अब उदय का प्राप्त हुएहैं ? जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता, किन किन अधर्मो को कर के वे धर्मज्ञान पा सके हैं ? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को सब कुछ समझते हैं, क्या पता है वे कुछ काल पूर्व, बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त न रहे हों ? अपने जन्म जन्मातरों के सस्कारो से भरी हुई अधकारमय कोठरी से निकल कर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो, तब तक धर्म के गूढ तत्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ ? बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा

मे चल नही तो उनमे क्या लाभ ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर मे पडा है, अथवा जब तक वह खाद की गर्मी से अकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उसके से नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम की ? ✓

जगत् के अनेक सप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं, पर अपने नेत्र तो अभी माया के पटल से बद हैं—और धर्मानुभव के लिए मायाजाल में उनका बद होना आवश्यक भी है। इस कारण में उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ। वे भाव—वे आचरण जो उन आचार्यों के हृदय मे थे और जो उनके शब्दों के अतर्गत मौनावस्था मे पडे हुए हैं, उनके साथ मेरा सबध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार का न हो जाय तब तक हो ही कैसे सकता है ? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं, टूटे फूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित करा सकते हैं। तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसको आखों में उसी महात्मा का चिन्ह है जिसका चिन्ह उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा मे फकीर छिपा है और फकीर मे राजा। बडे से बडे पडित में मूर्ख छिपा है और बडे से बडे मूर्ख में पडित। वीर में कायर और कायर मे वीर सोता है। पापी मे महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्म सप्रदायों के अनुच्चरित शब्द सुनता है, हम में कहा है ? जब वही नही है, तब फिर क्यों न

ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों का कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें? कोई धर्म-सम्प्रदाय आचरण रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्मसम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामिग्री का—जो संसार-सम्भूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना होगा? आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं, उन सब को आचरण के संघटित करने वाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सब को एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चल कर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली

की एक एक चोट से रात दिन बनाना पडेगा और उसी पर चलना भी पडेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार राम-प्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही चलाना पडेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न सही। ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौडा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूप हीन लोहे को तलवार के रूप में गढ देता हूँ, तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न सही। उस ज्ञान मे मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ, तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का ज्ञान नही तो न रहे। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई हैं कि वह महा भयानक समय मे भी अपने जहाज को नहीं छोडता तब तक यदि वह मेरी और तुम्हारी दृष्टि मे शराबी स्त्रैण है, तो वैसा होने दो। उसकी बुरी आदतों से हमे प्रयोजन ही क्या ? आधी हो, बरफ हो, बिजली की कडक हो, समुद्र का तूफान हो, रात दिन आँखें खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र मे डूब जाता है, अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अश मेरे—तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बैठए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से महत्व का है ?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मदिर मे, न मैं नमाज पढता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ, न सध्या ही करता हूँ और न कोई देवपूजा ही करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सब से प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या ? मैं तो अपनी खेती करता हूँ, अपने हल और बैलों को उठकर प्रात काल प्रणाम करता हूँ, मेरा जीवन जगल के पेडो और पक्षियो की सगत मे बीतता है, आकाश के बादलो को देखते देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता। हाँ यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नही। मेरे खेत में अनाज हो रहा है, मेरा घर अन्न से भरा है, बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिए एक लगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। मेरे हाथ-पाँव बलवान हैं, मेरा शरीर निरोग है, भूख खूब लगती है, बाजरा और मकई, छाँछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिए खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई मे वह मिठास नही जिसको प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न धर्म-संप्रदाय लबी-चौडी और चिकनी-चुपडी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य सगीत और कला की अति ने रोम को घोडे से उतार कर मखमल के गद्दों पर लेटा दिया, जब आलस्य और विषय-विकार की लपटता ने जगल और पहाड की साफ हवा के असभ्य और उद्दड जीवन से रोमवालों का मुह मोड दिया, तब

रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अबतक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया, वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत में संबंध रखने वाले जीवन में ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लडने भिडने मरने मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होने वाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परन्तु वह धर्मांकुर, जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य कमीने और पापमय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता। मठो और गिरजाघरों की मंद मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से युरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देश देशांतरों को ढूढते फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलती, जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियो के जीतने, लूटने मारने और उन पर राज्य करने के बिना मंद नहीं पडती, केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूग दलकर और पहाडों को फाद कर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिनहुड की प्रशंसा में इंगलैंएड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं, उन्हें तत्वदर्शी कहना चाहिए, क्योकि राबिनहुड जैसे भौतिक पदार्थों में ही नेल्सन और वेलिंगटन जैसे अंगरेज वीरों की हड्डिया तैयार हुई थीं। लडाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेडों आदि—को देखकर कहना पडता है

कि इन से वर्तमान सभ्यता से भी कहीं उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि युरोप के समुद्रों मे जगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और युरोप का घर घर सोने और हीरे से न भर जाता, तो वहाँ पदार्थ विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमी ज्ञान से मनुष्य मात्र का लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है, युरोप को कदापि प्राप्त न होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिए युरोपनिवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति मे अधिक चदा देकर भी सहायता की तो विगड क्या गया ? एक तरफ जहा युरोप के जीवन का एक अश असभ्य प्रतीत होता है—कमीने और कायरता से भरा हुआ मालूम पडता है—वहा दूसरी ओर युरोप के जीवन का वह भाग, जिसमे विद्या और ज्ञान के ऋषियो का सूर्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोडे ही समय मे पहले अश को मनुष्य अवश्य भूल जायगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिसके वायु और प्रकाश मे वह खिलता रहे, सदा फूलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहे। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों के सदा कमर बाधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो

यही अर्थ है। यदि समुद्र का सारा जल उडा दो तो रेडियम धातु का कहीं एक कण हाथ लगेगा, आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या एक जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना, सारी प्रकृति को हवा मे उडाए बिना भला कब मिलने का है ? प्रकृति को मिथ्या करके नही उडाना, उसे उडा कर मिथ्या करना है। समुद्रो में डोरा डालकर अमृत निकालना है। सो भी कितना ? जरा सा। ससार की खाक छान कर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बैठाए भी वह मिल सकता है ?

हिंदुओं का सबध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता, तो उनके वर्तमान वश मे अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—उनमे भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियो के पवित्रतामय प्रेम का जीवन देख देखकर अहकार मे मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जगली जाति की सतान होते तो उनमे भी ऋषि और बलवान योद्धा होते। ऋषियों के पैदा करने योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है, परतु ऋषि को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनत प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पुष्प-शैया पर वे मुरझा जाते हैं। माना कि प्रचीन काल में युरोप में लोग असभ्य थे, परतु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के

ऊपर ऋषि जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शैया पर असभ्यता का रग चढा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमो का पालन करना है।

तारागणो को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र मे गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धडाम से नीचे! इसका कारण केवल यही है कि वह अपने अटूट स्वप्न मे देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मै रोटी के बिना भी जी सकता हूँ, हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओ के गूढ भेदो को जान सकता हूँ, समुद्र की लहरो पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परतु अब तक न ससार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधडक शख फूक दो! कूच का घडियाल बजा दो! कह दो कि भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

लेखक का तात्पर्य यही है कि आचरण केवल मन के स्वप्नो से कभी नही बना करता। उसका सिर तो शिलाओ के ऊपर घिस घिस कर बनता है। उसके फूल तो सूर्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारबार भीग कर और सूख कर अपनी लाली पकडते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो ? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते ? अपनी अपनी कुदाली हाथ मे लेकर क्यों नही आगे बढते ? पीछे मुड मुड कर देखने मे क्या लाभ ? अब तो खुले जगत में अपने अश्वमेध-यज्ञ का घोडा छोड़ दो। तुम मे से हरएक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही, अपने आपकी परीक्षा करो !

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती तो आजकल भारतनिवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते ! भाई ! माला से तो जप नहीं होता, गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाडो पर चढने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र मे तैरने से नेती धुलती है, आंधी पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र मे अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की दो बडी बडी रोटियों से प्रतीत होते हैं। कुटियों मे ही बैठ कर धूप, आंधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी

ऊपर ऋषि जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शैया पर असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! इसका कारण केवल यही है कि वह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना भी जी सकता हूँ, हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सूर्य और तारागों के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ, समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परंतु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो कि भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

लेखक का तात्पर्य यही है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस घिस कर बनता है। उसके फूल तो सूर्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारबार भीग कर और सूख कर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारो साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हे कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ मे क्यों मर रहे हो ? अपनी अपनी स्थिति को क्यो नही देखते ? अपनी अपनी कुदाली हाथ मे लेकर क्यों नही आगे बढते ? पीछे मुड मुड कर देखने मे क्या लाभ ? अब तो खुले जगत मे अपने अश्वमेध-यज्ञ का घोडा छोड दो। तुम मे मे हरएक को, अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही, अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडवरो से होती तो आजकल भारतनिवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई। माला से तो जप नहीं होता, गगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाडों पर चढने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र मे तैरने मे नेती धुलती है, आधी पानी और साधारण जीवन के ऊँच नीच, गरमी-सरदी, गरीबी अमीरी का झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नो की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन कर। खुले समुद्र मे अपने जहाज पर वैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चद्र और सूर्य भी केवल आटे की दो वडी वडी रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटियों में ही वैठ कर धूप, आधी और वर्फ की दिव्य शोभा का आनद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण सभ्यता की प्राप्ति सभव है, और तभी

वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुप पाप से अपना पेट भरता है, तब तक धनवान पुरुप के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं होती। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं— तब तक जगत मे आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमे न शारीरिक झगडे हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक, न उसमे विद्रोह है, न जग का ही नामोनिशान है, और न वहाँ कोई ऊँचा या नीचा ही है। वहाँ न कोई धनवान् है न कोई निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखड राज्य है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वय अपने हाथो हाफिज शोराजी का सीना उलट कर उसे मौन आचरण का दर्शन कराया, उस समय फारस में सारे बौद्धो को निर्वाण के दर्शन हुए और सबके सब आचरण भी सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगम्बर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नगा किया, तब सारे मुसलमानो को आश्चर्य हुआ कि काफिर मे मोमिन किस प्रकार गुप्त था? जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दो को परे फेंक कर उसकी आत्मा के नगे दर्शन कराए, तो हिंदू चकित हो गये कि वह नग्न करने अथवा नग्न होने वाला उनका कौन सा शिव था? हमतो एक दूसरे मे छिपे हुए हैं। हर एक पदार्थ को परिमाणुओं मे परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु में

अपने आपको ढूंढना और अपने आपको एकत्र करना ही अपने आचरण को प्राप्त करना है । आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है । चाहे फूलों की शैया हो चाहे काटों की, चाहे निर्धन हो चाहे धनवान, चाहे राजा हो चाहे किसान, चाहे रोगी हो चाहे नीरोग हृदय इतना विशाल होजाता है कि उसमें सारा ससार बिस्तर लगाकर आनंद मे आराम कर सकता है। जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप तथा रग अपनी अपनी शोभा मे वे खटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है "सब कुछ अच्छा है सब कुछ भला है।" जिस समय आचरण की सभ्यता ससार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेदध्वनि सुनाई पडती है, नर-नारी सब पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात का गजर बज जाता है नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शख गूज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बासुरी की धुन आरभ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं। चाहे वेदों मे, चाहे इजील मे, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक मे, चाहे इस स्थान मे, चाहे उस स्थान मे, कही सोना अच्छा नहीं।

आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, वे स्वयं पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए अंकित किया कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का प्रयत्न करे।

बिहारी की बहुज्ञता

[प० पद्मसिंह शर्मा]

कवि के विषय मे किसी विद्वान् का कथन है कि "कवि प्रकृति का पुरोहित होता है"—जिस प्रकार पुरोहित के लिये यजमान के समस्त कुलाचारो और रीति रिवाजो का अतरग-ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यो का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके बिना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिन पर दूसरे मनुष्य की दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्व तक नहीं पहुँचती। वह तक पहुँचकर कोई ऐसी बात नहीं निकल सकती, जो साधारण प्रतीत होने पर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होने पर भी अलौकिक आनदोत्पादक हो और सैकडो बार की देखी भाली होने पर भी नवीन चमत्कार दिखाने-वाली हो। प्रकृति के छिपे और खुले भेदो को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। "अज्ञेयमीमाँसा" करने बैठना, आकाश के तारे तोडने दौडना, कवि का काम नहीं है। कभी कभी कवि को ऐसा भी करना पडता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकों का काम है। कवि का काम इससे भी बडा गहन है केवल व्याकरण और छद शास्त्र

के नियमों से अभिज्ञ होकर वर्णमात्रा के काटे में नपी तुली पद्य-रचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा कि आज कल प्राय समझा जाने लगा है। सूक्ष्मदृष्टि से प्रकृति के पर्यवेक्षण की असाधारण शक्ति रखने के अतिरिक्त विविध कलाओं, अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी कवि के लिये आवश्यक है जैसा कि कविता-मर्मज्ञों ने कहा है—

न स शब्दो न तद्वाच्य न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यागमहो भारो महान् कवे ॥

अर्थात्—न ऐसा कोई शब्द है न ऐसा अर्थ है न ऐसा कोई न्याय है और न कोई ऐसी कला है, जो काव्य का अग न हो इसलिये कवि पर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है। इस सब भार को अपनी लेखनी की नोक पर उठाने की जो शक्ति रखता है, वही महाकवि है।

सकल विद्यास्थानैकायतन पचदश काव्य विद्यास्थानम्।

—राजशेखर

(जहाँ चौदह विद्या-स्थानों का एक जगह सगम होता है वह 'काव्य' पद्रहवाँ 'विद्या-स्थान' है।)

यह सब बातें बिहारी की कविता मे प्रचुर परिमाण मे पायी जाती है सतसई पढने से प्रतीत होता है कि बिहारी का प्रकृति पर्यवेक्षण बहुत ही बढा चढा था। मानव-प्रकृति का उन्हे असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका सस्कृत-साहित्य का पाडित्य इससे ही सिद्ध है कि सस्कृत के महारथी

कवियों के मुकाबिले में उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृत पद्यों की छाया पर रचना करके, नवीन चमत्कार लाकर कहीं कहीं उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों में भी उनका अच्छा प्रगाढ परिचय था। जैसा कि आगे के अवतरणों से सिद्ध है।

बिहारी की प्रतिभा का विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूप से उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्कर की प्रभा की तरह वह प्रत्येक पदार्थ पर पडती थी। यही नहीं जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती, वहाँ भी वह पहुँचती थी। 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' इस कथन की पुष्टि बिहारी की कविता से अच्छी तरह होती है। सूर्य की किरणें आलोकग्राही पदार्थ पर पड कर अपने असली रूप मे प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं, परंतु बिहारी की अद्भुत प्रतिभा का प्रकाश जिस पदार्थ पर भी पडा, उसे ही अपने रूप मे चमका कर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकडे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्य की पर प्रतारणा, जोतिषी का ग्रहयोग, सूम की कजूसी, जिसे देखिये वही कविता के रग मे रँगा चमक रहा है।

इस जगह सब के उदाहरण देना कठिन है, इसलिए इस प्रकार के कुछ नमूनों से ही सतोष करना होगा। किसी

काव्य पर कुछ लिखते हुए प्रारंभ में उस काव्य से सुंदर सूक्तियों के नमूने देने की रीति है, हम भी चाहते थे कि ऐसा करें—इस प्रकरण में बानगी के तौर पर कुछ सूक्तियों के नमूने सतसई से उद्धृत करें—पर इस इच्छा से विवशतावश विरत होना पड़ा। इसके दो कारण हैं, एक तो अनेक सूक्तियाँ इस प्रसंग में आ जायगी, इसलिए पृथक देने की कुछ आवश्यकता न रही। दूसरे सतसई में किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है। इस खाड़ की रोटी को जिधर से तोड़िये उधर से ही मीठी है, इस जौहरी की दूकान में सब ही अपूर्व रत्न हैं। बानगी में किसे पेश करें। एक को खास तौर पर आगे करना दूसरे का अपमान करना है, जो सहृदयता की दृष्टि से हम समझते हैं अपराध है। रुचि भेद से किसी को कोई सूक्ति अच्छी जँचे, कोई वैसी न जँचे, यह और बात है। किसी को शब्दालंकार पसंद है किसी को अर्थालंकार, कोई वर्णनवैचित्री पर रीझता है तो कोई सादगी पर फिदा है, कोई रस पर मरता है तो कोई बंधसौष्ठव पर जान देता है। कोई पदार्थ का उपासक है तो कोई पदावलि के पाँव पूजता है—

सतसई के विषय में स्वर्गीय राधाकृष्णदास सम्मति सोलह आना सत्य है—

"यह सतसई भाषा को

और बिहारीलाल के संबंध में गोस्वामी श्रीराधाचरण जी की इस युक्ति में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि—

यदि सूर सूर, तुलसी शशी, उडगन केसवदास हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिसके उदय होते ही सब का प्रकाश आच्छन्न हो जाता है फिर उसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। सतसई की भाषा ऐसी विशुद्ध है और शब्द रचना इतनी मधुर है कि सूरदास को छोड़कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी दुर्घट है, सतसई के संबंध में ब्रजभाषा के किसी पुराने पारखी की यह सम्मति सर्वथा सत्य है—

ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि-बिसाल।
सबकी भूषन सतसई, रची बिहारी लाल॥

ब्रजभाषा के मर्म का विदग्ध हृदय इस कथन की सत्यता का साक्षी है। ब्रजभाषा को सिर्फ सूँघकर परखने वाले कुछ महान पुरुषों की दिव्य दृष्टि में इनकी भाषा वैसी बढ़िया 'चाहे न हो' पर भाषा के जौहरी भाव से भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषा पर लट्टू हैं। इस समय जबकि खड़ी बोली के जोशीले नौजवानों की ब्रिगेड ने ब्रजभाषा के 'बिजन' का बिगुल बजाकर कतलेआम मचा रखा है, खड़ी बोली की किताबपुरी के तोते तक जब इसे देखकर हास्य, भारय, ग्रस, 'पिन' कहकर चिल्ला रहे हैं,

तब ब्रजभाषा के सौष्ठव की दुहाई देना, नक्कारखाने में तूती की आवाज पहुँचाने के बराबर है। ब्रजभाषा के मर्मज्ञ स्वयं जानते हैं कि सतसई की भाषा कैसी कुछ है और जो नहीं जानते हैं वे किसी के समझाने से भी क्या समझेंगे।

गणित का ज्ञान

कहत सबै बेंदी दिये आँक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये अगनित बढ़त उदोत॥
कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत॥

गणित के मूल सिद्धांत का कविता के रूप में कितना मनोहर निदर्शन है। गणित के सिद्धांत से अपने मतलब की बात कितने अच्छे ढंग से सिद्ध की है। बिंदु (शून्य) देने से अंक दसगुना हो जाता है। और तिरछी विकारी लगाने से दाम के रुपये बन जाते हैं। यह सब गणितज्ञ जानते हैं। पर इस तरह कहना कवि ही जानता है। गणित-शास्त्र में दसगुणोत्तरा संख्या रखने की चाल है। इकाई को दस से गुनकर दहाई और उसे दससे गुनकर सैकड़ा (शत) इत्यादि दशगुणोत्तर संख्या बनाते हैं। दसगुणित नहीं असंख्य-संख्या-गुणित-अंक (उद्योत) पैदा हो जाते हैं। यह कवि की प्रतिभा का ही काम है।

ज्योतिष का चमत्कार

मंगल बिंदु सुरंग, ससि मुख केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किये लोचन जगत॥

इस सोरठे में बिहारी ने अपने ज्योतिष ज्ञान का परिचय बड़े मनोहर रूप में दिया है। ज्योतिष का सिद्धात है कि जब बृहस्पति और मगल के साथ, चद्रमा एक राशि पर आता है तो देशव्यापक वृष्टि ही होती है—

गुर भौम-समायोगे करोत्येकारर्णवा महीम्

(अर्घप्रकाश)

ज्योति के इस तत्व को कवि ने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषों को जितना आनद इस भौतिक वृष्टि से होता है उससे कहीं अधिक विदग्ध सहृदयों को इस कविता-मृतवर्षा से होता है।

माथे पर लगी लाल वेंदी, मगल है। मुख चद्रमा है। ऊपर केसर का (पीला) तिलक बृहस्पति है। इन सबने एक नारी (नाड़ी) —स्त्रीराशि—में इकट्ठे होकर ससार के नेत्रों को रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—

मगल का रग लाल होता है इसलिए उसका 'अगारक' और 'लोहिताग' नाम है। सो यहाँ वेंदी है। बृहस्पति का वर्ण पीला है वह यहा केसर का तिलक है। मुख की चद्रता प्रसिद्ध ही है। 'नारी' और 'रस' शब्द शिलष्ट हैं (रस-जल और शृ गार, 'रसोजल रसो हर्षो रस शृ गार उच्यते')।

यह सोरठा, श्लेपानुप्राणित समस्त - वस्तु - विषय - सावयव रूपक का और कवि के ज्योतिष ज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

महाकवि गालिब ने भी (नीचे के शेर में) ज्योतिष के फलादेश की परीक्षा आशिकों की किस्मत पर करनी चाही है, और मौलाना हाली ने इसे कवि की प्रतिभा का उत्तम उदाहरण बतलाकर कहा है कि आशिक अपनी धुन में इतना मस्त (तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलब की सूझती है, ज्योतिषी ने जो साल को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसार की अन्य घटनाओं पर क्या होगा, इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं वह देखना चाहता है कि देखे आशिक इस साल बुतों से क्या फैज (लाभ) पाते हैं।

देखिये पाते हैं उश्शाक बुतों से क्या फ़ैज़,
इक बिरहमन ने कहा है कि यह साल अच्छा है।

(गालिब)

सनि कज्जल चख झख लगनि उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवे लहि सुदेस सब देह॥

ज्योतिष का सिद्धात है कि जन्म-समय में यदि शनि, गुरु, की राशि—अर्थात् धन या मीन में, और स्वराशि—मकर या कुंभ में तथा उच्चराशि—तुला में हो तो इस सुलग्न में जन्म लेने वाला मनुष्य नरपति होता है। जैसा कि लिखा है—

गुरुस्वर्चोच्चस्थे नरपति

(वराहमिहिर बृहज्जातक)

कवि के स्नेह-बालक की जन्म-कुंडली में देखिये यह योग कैसा अच्छा पड़ा है—आँख का काजल—शनि है। चख—चक्षु मीन है,—

(शनिका रग नीला है, और मीन, नेत्र का उपमान है, यथा मीनाक्षी)—ऐसे सुयोग मे जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-बालक, सब देह रूप देश पर अधिकार जमा कर—राजा बन कर—क्यो भोग न करेगा ? अवश्य करेगा। ज्योतिष की बात कभी झूठ हो सकती है। ज्योतिष के फलादेश मे किसी को सदेह भी हो सकता है, पर बिहारी के इस ज्योतिष मे सदेह का अवसर नही है।

तिय तिथि तरनि किसोर वय पुन्न (पुण्य) काल सम दोन।
काहू पुन्यन पाइयत बैस-सधि-सक्रोन ॥

इस देश मे सक्राति के पुण्य प्राप्य पर्व का कितना अच्छा रूपक है। इस रूपक के 'ब्रह्मकुड' में रसिक भक्तों के मन अनगिनत गोते लगा रहे हैं।

वैद्यक विज्ञान

मे लखि नारी ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
वह ई रोग निदान, वहै वैद ओषध वहै ॥

कविता के नलके मे वैद्यक विज्ञान का 'आसव' खींचकर इस सोरठे की शीशी में भर दिया है। वैद्यक में और है क्या ? नाडी-ज्ञान, रोगनिदान, ओषध और वैद्य। मूल बातें यह तीन चार ई, बाकी इसकी व्याख्या है।

नारी—(नाडी)-ज्ञान से क्या अच्छा रोग का निदान किया है।

"यहइ रोग निदान, वहै वैद्य ओषध वहै"

वही रोग का निदान (आदि कारण) वही वैद्य-चिकित्सक और वही औषध है।

यह तर्ज अहसान करने का तुम्ही को जेब देता है,
मरज में मुब्तला करके मरीजो को दवा देना ॥

(अकबर)

मुहब्बत में नहीं है फर्क जीने और मरने का।
उसी को देखकर जीते है जिस काफिर पै दम निकले ॥

(गालिब)

यह विनसत नग राखिकै जगत बडौ जस लेहु।
जरी विषम-जुर-ज्याइये आय सुदर्शन देहु ॥

इस नष्ट होते हुए नग (रत्न-कामिनी रत्न) को बचा कर जगत मे बडा यश प्राप्त करो, विषम ज्वर मे जली हुई को 'सुदर्शन' देकर जिलाओ।

वियोग-व्याधि ने विषम ज्वर का रूप धारण किया है, उसकी निवृति के लिए सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) अपेक्षित है।

'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद श्लिष्ट हैं।

इतिहास-पुराण-परिचय

ये दोहे कवि के इतिहास-परिचय मे पुष्ट प्रमाण हैं—

विरह विथा-जल-परस बिन बसियत मो हिय-ताल।
कछु जानत जल-थंभ विधि, दुरजोधन लौं लाल।

'दुर्योधन को जलस्तंभन विद्या' सिद्ध थी। उसी के प्रताप से वह युद्ध के अन्त में कई दिन तक तालाब मे छिपे बैठे रहे थे।

यह ऐतिहासिक उपमा कविता मे आकर कितनी चमत्कृत हो गयी है। कोई विरहणी कहती है—

हे लाल! दुर्योधन के समान तुम भी कुछ जलस्तंभविधि जानते हो तभी तो विरह व्यथा ज्ल के स्पर्श से बचे रह कर मेरे हृदय-सरोवर मे (आराम से) बैठे हो? हृदय में रहते हो पर उसमे भरे विरह-व्यथा के जलका—विरह व्यथा का—तुम्हें स्पर्श भी नहीं होता बडे बेपीर हो। (चिकने घडे हो)

बसि सकोच-दस-बदन-बस साँच दिखावति बाल।
सिय लों सोधति तिय तनहि लगनि अगनि की ज्वाल॥

रामायण की प्रसिद्ध घटना 'अग्नि परीक्षा का' उल्लेख इस दोहे मे कितनी उत्तमता से किया है। विवश होकर सीता जी को रावण के यहाँ रहना पडा था। वहाँ से छुटकारा पाने पर उन्होंने अपने सत्य की परीक्षा अग्नि मे प्रवेश करके दी थी। यहाँ सकोच (लज्जा-सचारी) प्रियदर्शन मे बाधक होने स रावण है, लगन—दृढ प्रेम, अग्नि है। सोधना—उत्कठा पूर्वक स्मरण करना (सोधित पद श्लिष्ट है—देह शुद्ध करना और स्मरण करना)—तनुशोधन है।

अर्थात् उसे सकोच ने ही अब तक तुमसे नहीं मिलने दिया सकोच ही मिलने मे बाधक था, प्रेम का अभाव नहीं उसका तुम मे अविचल सच्चा प्रेम है। इसकी परीक्षा वह लगन की अग्नि में बैठकर दे रही है। तुम्हारा स्मरण कर रही है। सदेह छोडकर उसे अंगीकार करो।

नीति निपुणता

दुसह दुराज प्रजानि कौं, क्यो न बढ़ै दुख दद ।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिल मावस रविचद ॥

जब 'दुअमलो' होती है—प्रजा पर दुहरे शासको का शासन होता है—तो प्रजा के दुख बेतरह बढ जाते हैं ससार के इतिहास मे इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फकीर एक गुदडी मे गुजारा कर लेते हैं पर दो राजा एक 'रजाई' में नहीं रह सकते, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जब कभी कही दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ है, प्रजा पर विपति के बादल छा गये हैं। प्रजा-पीडन पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

बिहारी ने यह बात एक ऐसे दृष्टात से समझाई है जिसे सदा सब कोई देखते हैं। पर नही समझते कि क्या बात है। अमावस के दिन अधकार के आधिक्य का क्या कारण है? यही दुअमली। उस दिन आकाश के दो शासक—सूर्य और चद्र—एक राशि मे इकट्ठे होते हैं। जिससे ससार मे आदर्श अधकार छा जाता है।

सवैया

एक रजाई समैं प्रभु द्वै सु तमोगुन को बहुभाति बढ़ावत।
होत महा दुख दु द प्रजान को और सबै सुभकाज थकावत॥
"कृष्ण" कहै दिननाथ निसाकर एक ही मडल में जब आवत।
देखो प्रतच्छ अमावस को अँधियारो कितौ जग में सरसावत॥

(कृष्ण कवि)

कहै इहै श्रुति सुम्रृति सो यहे सयाने लोग।
तीन दवावत निसक हि राजा पातक रोग॥

श्रुति स्मृति और सयाने—नीति-निपुण—लोगो की नीति, सब इसमे एक स्वर से सहमत हैं कि राजा, पातक और रोग, ये तीन 'निसक'—नि शक्त—निर्वल को ही दवाते हैं।

'ज्ञानी' लोग सब कुछ करते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" निर्लिप्त रहते हैं। ज्ञानाग्नि की प्रचड ज्वाला, उनके पातक पुज को तृण समूह की तरह भस्म कर डालती है। जिन पातको का ज्ञानहीन मनुष्य के लिए प्राणात प्रायश्चित बतलाया है, प्रचड ज्ञानी (प्रबल शासक जाति के समान) उस से एकदम बरी समझे गये हैं। मतलब यह कि ज्ञान-बलहीन को पातक दवाते हैं। देह बलहीन को रोग दवाते हैं और पराक्रम हीन—शासन बल रहित—जाति को राजा दवाते हैं। ससार का इतिहास इसमे साक्षी है।

सर्वो बलवता धर्म, सर्वं बलवता स्वकम्।
सर्वं बलवता पथ्य, सर्वं बलवता शुचि॥ (महाभारत)

* * * *

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमान।
भलौ भलौ कहि छाडिये खोटे ग्रह जप दान॥

ससार में सीधे सच्चे और भले आदमी का गुजारा नहीं उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपची की सब जगह पूजा होती है, पर-पीडन मे जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उसका आदर होता है जिसने छल, बल से दूसरो को दबा कर

अपनी धाक विठाली—सिक्का जमा लिया उसी का लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे एक कोने में पड़े सड़ते रहते हैं उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं (शनैश्चरादि) जिनसे किसी को हानि पहुँच सकती है—उन्हीं के नाम पर जप और दान किया जाता है। भले को भला कह कर छोड़ देते हैं। अजी यह स्वभाव ही से साधु है, माधो के लेने में न उधो के देने में।

दार्शनिक तत्व

मैं समुमयो निरधार—यह जग काँचौ काँच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत जहाँ॥

'अध्यासवाद' और 'विवर्त्तवाद' के समान 'प्रतिबिंबवाद' वेदांत शास्त्र का एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठे में कवि ने वेदांत के 'प्रतिबिंबवाद' को कविता के साँचे में ढालकर कितना कमनीय रूप दे दिया है। संसार की असारता दिखाने के लिये काँच का दृष्टान्त यहाँ कैसा चमक रहा है, इस में संसार की असारता किस प्रकार पड़ी झलक रही है।

इस दृश्य प्रपंच के वेदांतमतानुसार ये पाँच अंश हैं।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नामचेत्यंशपंचकम्।
आद्य त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ (पंचदशी)

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम, ये पाँच अंश हैं इनमें पहिले तीन—अस्ति, भाति और प्रिय, अंश ब्रह्म का रूप है और पिछले दो—नाम और रूप जगत् का स्वरूप है। प्रत्येक

पदार्थ मे सत्ता प्रकाश और प्रेमास्पदता, ब्रह्म का रूप है, जो सत्य है। घट पटादि नाम और आकार, ससार का रूप है और यही मिथ्या है।

यह जगत कॉच के शीशे की तरह कचा—छण भगुर है। ज्ञान की जरा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है। प्रतिबिबग्राही होने से एक ब्रह्म प्रतिबिंबित हुआ दीख रहा है, यह सब उसी का विराट-रूप है, जो देख रहे हो। नानाभाव की पार्थक्य प्रतीति का कारण नाम, रूप, मिथ्या है।

"एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" "इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते"।

"अग्निर्यथेको भुवन प्रविष्ठो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सवभूतातरात्मा, रूप रूप प्रतिरूपो वहिश्च"॥

इत्यादि, शतश श्रुतिया इस बात का प्रतिपादन डके की चोट पर कर रही हैं।

अज्यौ तरयोना ही रह्यौ श्रुतिसेवत इक अग।
नाकबास बेसर लह्यौ बसि मुक्तन के सग॥

ससार सागर से पार होने के लिये जीवन्मुक्त पुरुषों की सगति भी एक मुख्य उपाय है। यही बात इस दोहे मे एक मनोहर श्लेष मे लपेट कर एक निराले ढग से कही गई है 'तरौना' कान के एक आभूपण का नाम है जिसे तरकी या ढेढी भी कहते हैं 'बेसर' नाक का प्रसिद्ध भूपण (नथ) है। इस दोहे मे कवि ने श्लेप के वल से बडा अद्‌भुत चमत्कार दिखलाया है। कहते हैं कि श्रुति (कान) रूप एक अग का सेवन करने वाला तरौना अब तक

'तरयौना' ही है और 'मुक्तनिके सग बसि' मोतियों के साथ रह कर 'बेसर' ने नाकबास प्राप्त कर लिया—नाक मे स्थान पा लिया। इसका दूसरा प्रतीयमान अर्थ है कोई किसी मुमुक्षु से कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओ की सगति करो, श्रुति-सेवा भी एक ससार तरणोपाय है सही, किंतु इससे शीघ्र ही नहीं तरोगे देखो यह कान का तरौना श्रुतिरूप एक अग का कब से सेवन कर रहा है पर अब तक 'तरयौना ही रह्यो'—तरा नही तरौना ही बना है। और बेसर ने 'मुक्तनि के सग बसि' मुक्तो की सगति पाकर 'नाक-बास लह्यो'—वैकुठ—सालोक्य मुक्ति—प्राप्त करली।

अथवा कोई किसी केवल-श्रुति-सेवी मुमुक्षु से कह रहा है कि एक अग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अब तक नही तरे—विचारतरगों मे गोते खा रहे हो और वह देखो अमुक व्यक्ति ने मुक्तो की सत्सगति से 'बेसर' अनुपम—नाकवास वैकुठप्राप्ति—सायुज्यमुक्ति प्राप्त करली। दोहे के तरयौना, श्रुति, अग, नाक, बेसर, मुक्तनि ये सब पद श्लिष्ट है।

सगति की महिमा मे ग्रथ भरे पडे हैं गोस्वामी तुलसीदास ने भगवद्भक्तो की सत्सगति की महिमा बडे समारोह से समझाई है। पर इस चमत्कारजनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारी अपने कविता प्रेमियो की नब्ज पहिचानते हैं, वे जानते हैं कि 'अपने बावले' को किस प्रकार समझाया जाता है। रसलोलुप कविताप्रेमी सत्सगति की महिमा किस रूप में

सुनना पसद करेंगे। रात दिन जो चीजें प्रेमियों की नजर मे समायी रहती हैं उनकी ओर इशारा करके ही उन्हे यह तत्व समझाना चाहिए। कवि के लिये यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक-रोगी कब कान देता है। सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमीको विषयासक्ति का दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो उसके लिये किसी पतित भक्त या योगभ्रष्ट ज्ञानी का दृष्टात देने को वह इतिहास के पन्ने पलटने नहीं बैठता। वह उस विषयी की दृष्टि में बसी हुई चीज को सामने दिखाकर झटपट बोल उठता है कि देखो, विषयासक्ति की दुरतता।

जोग जुक्ति सिखई सब मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन॥

इस दोहे मे योगदक्ष कानन सेवी ब्रह्माद्वैताभिलाषी वानप्रस्थ की समाधि (प्रतीति) है। जिस प्रकार किसी सद्गुरू महामुनि से योग की दीक्षा पाकर कोई प्रधान पुरुष प्रिय परम-प्रेमास्पद-ब्रह्म से अद्वैत—अभेद—चाहता हुआ, कानन—वन का सेवन करता है, इसी प्रकार कामिनी के नयन, महामुनि मदन से योगयुक्ति—प्रिय सगम की युक्ति—सीखकर कानों का सेवन कर रहे हैं।

योग, अद्वैतता, कानन, पद श्लिष्ट हैं। 'योग सहननोपायध्यान संगतियुक्तिषु' के अनुसार मुनि के पक्ष मे योग का अर्थ ध्यान है। नेत्र के पक्ष में सगति।

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ।
सूक्ष्म कटि पर ब्रह्म लों अलख लखी नहीं जाइ॥

इस दोहे में कवि ने परम सूक्ष्म कटि को अलख परब्रह्म की उपमा देकर कौतूहल जनक कमाल किया है। पूर्वार्ध मे ब्रह्म-दर्शन के उपायो का निर्देश करने वाली एक सुप्रसिद्ध श्रुति को किस मार्मिकता से निराले ढग पर व्यक्त किया है।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मतव्यो निदिध्यासितव्य ।'

श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के सबंध में सुना, अनुमान के द्वारा उसके सच्चिदानद स्वरूप को जाना, निरतर ध्यान द्वारा किसी प्रकार इस तत्व को बुद्धि मे ठहराया। फिर भी ब्रह्म, ऐसा अलक्ष्य (अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षात्कार नहीं होता ।

'कटि' (कामिनी की कमर) भी कुछ ऐसे ही सूक्ष्म और अलख है। श्रुति—शब्द प्रमाण—द्वारा सुनते हैं कि कमर है,—'सनम ! सुनते हैं तेरे भी कमर है' —फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है तो यह शरीरप्रपच—स्तन-शैल, मुख-चद्र आदि किसके सहारे ठहरे हुए है। 'ब्रह्म' नहीं है तो यह विश्व-प्रपच—हिमालयादि-पर्वत, चद्रादि, ग्रह-मंडल-किसमे स्थित हैं—कल्पित हैं। इसीलिये कटि—ब्रह्म अवश्य है। इस तत्व को—कटि ब्रह्म के सत्तास्वरूप को—निरतर ध्यान द्वारा किसी प्रकार बुद्धि में ठहराते हैं। फिर भी 'अलख लखी नहिं जाइ' उसका साक्षात्कार नहीं होता, नजर नहीं आती, दिखलायी नहीं देती—'कहाँ है किस तरफ को है, किधर है,' यही कहते रह जाते है।

सूक्षमकटि परब्रह्म सी अलख लखी नहिं जाय।

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है। परब्रह्म उपमान। कटि उपमेय। लखी नहिं जाय, साधारण धर्म। 'सी, या लौं' वाचक। देखा वाचक! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है।

हिंदी संसार के सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली वरयवाक् वर्तमान कविराज श्रीयुत पंडित नाथूराम शंकर जी शर्मा 'शंकर' ने भी दार्शनिक कविता के रूप मे अनोखे ढगपर 'कमर की अकथ कहानी' कही है, कटि का चमत्कृत वर्णन इस प्रकार किया है—

घनाक्षरी

पास के गये पे एक बूंद हू न हाथ लगै,
दूरसों दिखात मृगतृष्णिका में पानी है।
"शंकर" प्रमाण सिद्ध रंग को न संग पर,
जान पड़े अबर नीलिमा समानी है॥
भाव में अभाव है अभाव में धौं भाव भरयो,
कौन कहै ठीक बात काहूने न जानी है।
जैसे इन दोउन से दुविधा न दूर होत,
तैसे तेरे कमर की अकथ कहानी है॥

जनाब "अकबर" ने भी अपने खास रंग में कमर की कायनात बयान करने मे कमाल किया है। क्या खूब फर्माया है।

कहाँ देखा न हस्ती को अदम का इत्तफाक ऐसा।
जहाँ मे मिस्ल रखती ही नहीं उनकी 'कमर' अपना।

"जो पूछा नेस्ती हस्ती में क्यों कर फ़र्क़ ज़ाहिर हो।
'क़मर' ने यार की ईमा किया में हद्दे—फ़ासिल हूँ ॥"

* * *

जगत जनायो जिहिं सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आखिन सब देखिये आँखि न देखी जाहिं ॥

यह सब जगत (जिसकी सत्ता से स्थित और) जिसके प्रकाश से प्रतिभासित हो रहा है अपनी माया से रचकर जो इसे दिखा रहा है वह स्वयं 'अज्ञेय' है, नहीं जाना जाता, नहीं दीख पड़ता। आँख से सब कुछ देखा जाता है सबको आँख से देख सकते हैं पर स्वयं आँख (अपने आप को) नहीं दीखती। आँख को आँख से नहीं देख पाते।

कितनी पते की बात कही है कैसा सुंदर दृष्टांत है। यह जितना सहज और सरल है, उतना ही निगूढ़ दार्शनिक रहस्य इसमें छिपा है। इसकी व्याख्या मे बहुत कुछ कहा जा सकता है।

भक्ति मार्ग

बिहारीलाल जिस प्रकार ज्ञानमार्गगामी थे इसी प्रकार भक्ति-पथ के प्रवीण पथिक थे इसके भी दो चार दोहे सुन लीजिये। कैसे नावक के तीर हैं।

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव।
तर ससार पयोधि कौं, हरि नामैं करि नाव ॥

कैसा अच्छा रूपक बाँधा है, और कितनी सच्ची बात कही है। हरि नाम की नाव बना और जपमाला की पतवार पकड़—

बस इस ससार-समुद्र को तर जा, और कोई उपाय पार उतरने का नहीं है।

> तो लगि या मन-सदन में, हरि आवहिं किहि बाट।
> निपट निकट जब लगि जुटे, खुलहिं न कपट-कपाट॥

कितनी मनोहर रचना है, कर्ण कटु टकार की बहार इस जगह कितनी श्रुति मधुर मालुम दे रही है। कपट भक्त को क्या फटकार बतलाई है।

जब तक कपट के विकट किवाड़ जुटे हैं, तब तक मनरूप मंदिर में हरि किस रास्ते से आवे। जरा सोचो तो, लोहे के फाटक से मकान को मजबूती के साथ बंद कर रक्खा है और चाहते हो कि कोई भला आदमी उसके अंदर पहुँच कर तुम्हे कृतार्थ करे।

> जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
> मन काँचे नाचे वृथा साँचे राँचे राम॥

इस दोहे के दृढ-प्रहार से भंड-भक्ति का भाडा फोड़ दिया है।

> दूरि भजत प्रभु पीठ दै, गुन विस्तारन काल।
> प्रगटत निरगुन निकट हि, चग रग गोपाल॥

बिलकुल नई बात कही है। साकार या सगुण के उपासक, निराकार या निर्गुण के उपासकों पर ताना मारा करते हैं कि निर्गुण की उपासना हो ही नहीं सकती। निहारी कहते हैं कि गुण विस्तार करने के—सगुण रूप के उपासना के—समय प्रभु पीठ देकर दूर भागते हैं।

उसके गुण अनत हैं कोई पार नहीं पा सकता, फिर कोई सगुणोपासक उसे क्षीरसागर में ढूँढता है, कोई वैकुंठ में खोजता है, कोई कैलाश पर, और कोई कहीं। निर्गुणोपासना मे वह पास ही प्रकट हो जाता है, जहाँ ध्यान करो वहीं उसकी प्राप्ति सुलभ है। चगकी—पतग—की डोरी को जितना ही बढाओ उतना ही पतग ऊपर जाता है—डोरी (गुण) काट दो तो पास ही आ पडता है। 'चग रग' चग की तरह। कोई इसका अर्थ यह भी कहते हैं—गुण—विस्तार काल में—सत्व रजस्तमो लक्षण गुणावत पुरुषो से वह (ईश्वर) दूर रहता है, और जो निर्गुण हैं—गुणातीत हैं—उनके निकट में ही प्रकट होजाता है। जैसा कि भगवद्गीता मे कहा है—

गुणानेतानतीत्यत्रीन् देही देह समुद्भवान्।
जन्म-मृत्यु-जरा दु खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

पर इस अर्थ मे चग रग की सगति बिगड जाती है।

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनौ भये आज काल के दानि ॥

बडो शोखी है। 'दान' कहते हैं नट के 'ढोलिया' को। नट बढिया से बढिया तमाशा दिखाता है—जान पर खेल कर एक से एक कठिन कला करके दिखाता है—पर ढोलिया ढोल पर डका मारकर बराबर यही कहता रहता है 'कि यह कला भी नहीं बदी, यह भी नहीं बदी।'

भक्त ईश्वर से कहता है कि पहिले तुम थोडे से गुण पर

रीझ जाते थे—झूठ मूठ भी किसी के मुह से तुम्हारा नाम निकल गया तो उसका बेडा पार लगा दिया। पर अब हम नाना प्रकार की भक्ति से—अपने मे अनेक सद्‌गुण सपादन करके—तुम्हे रिझाना चाहते हैं, पर तुम नहीं रीझते। मालुम होता है कि तुम भी 'नट के ढोलिया' बन गये हो। हमारी प्रत्येक प्रार्थना, उपासना, भक्ति और सत्कर्म पर 'यह भी नही बदा' कह कर उपेक्षा कर रहे हो।

अथवा आज कल के दानी जिस तरह दानपात्र (याचक) में सौ मीन मेख निकाल कर—तुममे यह बात तो अच्छी है, पर इतनी कसर है, इसलिये हमारी सहायता के तुम पात्र नहीं हो, इत्यादि बहाना करके दानपात्र को कोरा टाल देवे हैं, ऐसा ही बर्ताव तुम अपने दीन भक्तो के साथ करने लगे हो।

> कबको टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
> तुमहूं लागी जगत-गुरु जगनायक जगबाय॥

ससार बडा स्वार्थी है। यहाँ कोई दीन दुखी के करुण क्रदन पर कान नहीं देता। इसी ससार की हवा, मालूम होता है, 'हे जगत गुरु' जग नायक स्याम! तुम्हे भी लग गयी। तभी इतने बेपीर हो गये हो।'

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

[आचार्य रामचंद्र शुक्ल]

'दृश्य'-शब्द के अंतर्गत, केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेंद्रियों के विषयों का भी (जैसे शब्द, गंध, रस) ग्रहण समझना चाहिए। 'महकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के झकोरों से हिलती हुई आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है', इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द, और गंध तीनों का विवरण है, पर इसे एक 'दृश्य' ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सबसे अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौणरूप से आते हैं। बाह्य करणों के सब विषय अंत करण में 'चित्र'-रूप से प्रतिबिंबित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिंब को हम 'दृश्य' कहते हैं।

'बिंब-ग्रहण' कराने के लिये चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा

आदि अलकारों में भी, पर जब कि रस ही काव्य मे प्रधान वस्तु है तब उसके सयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है, वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आधार खडा करनेवाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किंतु वहाँ उसे यों ही उडान भरना नहीं होता, उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पडता है। उसे ऐसे स्वरूप खड़े करने पडते हैं, जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वय अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्य-मात्र की अनुभूति तथा उसके विषयो को अपने हृदय मे रखनेवाले ही ऐसे स्वरूपों को अपने मन में ला सकते हैं, और कवि कहे जाने के अधिकारी बन सकते हैं।

विभाव के अतर्गत दो पक्ष होते हैं—

(१) आलबन (भाव का विषय)

(२) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)

इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किंतु दूसरा हृदय-सपन्न मनुष्य ही होता है। प्राचीन कविगण इन दोनों का स्वरूप प्रतिष्ठित करने मे—इनका बिंब-ग्रहण कराने में—कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग करते थे। वाल्मीकीय रामायण को मैं आर्य-काव्य का आदर्श मानता हूँ। उसमें राम के रूप, गुण,

शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दण्डकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमें हाट, घाट, वन, पर्वत, नदी, निर्झर, ग्राम, जनपद इत्यादि न-जाने कितने पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण मिलता है।

साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में वन, उपवन, ऋतु आदि शृंगार के 'उद्दीपन'-मात्र हैं, वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिए हैं। जब यही बात है, तब फिर इनका सश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को 'बिंब-ग्रहण' कराने से क्या प्रयोजन? उनके नाम गिनाकर अर्थ ग्रहण करा दिया, बस, हो गया। पर सोचने की बात है कि क्या प्राचीन कवियों ने इनका वर्णन इसी रूप में किया है? क्या विश्व-हृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव के आरंभ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है, वह केवल शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग-प्राप्त हैं, अर्थात् आलंबन की परिस्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होते हैं। इस पर यों गौर कीजिए। राम और लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने हैं। एक में केवल दो मूर्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और दूसरे में पयस्विनी के द्रुम-लताच्छादित तट पर, पर्ण कुटी

के सामने, दोनो भाई बैठे हैं। इनमे से दूसरा चित्र परिस्थिति को लिए हुए है, इससे उसमें हमारे भावों के लिए अधिक विस्तृत आलबन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलबन है, अत उपचार से वह हमारे भावों का भी आलबन है। उसी परिस्थित मे—उसी ससार मे—उन्ही दृश्यों के बीच, जिनमे हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-सबध का अधिक अनुभव करते है, जिससे 'साधारणीकरण' पूरा पूरा होता है।

पर प्राकृतिक वर्णन केवल अग-रूप मे ही हमारे भावो के आलबन नहीं हैं, स्वतत्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यो के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे, और अब भी मनुष्य-जाति का अधिकाश (जो नगरो मे नही आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम भाव, पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से, सस्कार या वासना के रूप मे, हमारे अत करण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरजन होता है, वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जडता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यो को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, और सस्कार सापेक्ष है। मैंने पहाडों पर या जगलो मे घूमते समय बहुत-से ऐसे साधु देखे हैं, जो लहराते हुए हर-भरे जगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी-से ढलते हुए झरना,

चौकडी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कल रव कर रहे विहगो को देख मुग्ध हो गए हैं। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नील-वर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई सदेह नही कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक सचारी भाव है। इसलिए यह मानना पडेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है, और वह रति-भाव उन दृश्यों के प्रति है।

मनुष्य, शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक संबध का विच्छेद करने से, अपने आनद की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक-रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार "भावों" (मन के वेगो) की व्याप्ति के लिए भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को सकुचित कर लेगा, तो उसका आनद पशुओ के आनद से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा। अत यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी, खेत बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम-से-कम वासना के रूप में अत करण मे निहित है।

पर प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(१) सुदर रूप के अनुभव द्वारा, और (२) साहचर्य द्वारा। सुदर रूप

के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ (मेरे मानस कोश मे दोनों का अर्थ प्राय एक ही निकलता है) प्रतिष्ठित होता है, उसका हेतु सलक्ष्य होता है, और, जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अकुरित और पल्लवित होता है, वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान शून्य होता है। यदि हम किसी किसान को उसकी झोपडी मे हटाकर, किसी दूर देश मे ले जाकर, राजभवन मे टिका दें, तो वह उस झोपडी का, उसके छप्पर पर चढी हुई कुम्हडे की बेल का, सामने के नीम के पेड का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहावेगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरा झोपडा इस राज-भवन से सुन्दर था, परतु फिर भी झोपडे का प्रेम उसके हृदय मे बना हुआ है। यह प्रेम रूप-सौंदर्यगत नहीं है, सचा स्वाभाविक और हेतु ज्ञान शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौंदर्य गत प्रेम नही पहुँच सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं, और अपना प्रेमानद केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं, कि "अहा-हा! कैसे लाल-पीले और सुदर फूल खिले हैं, पेड किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक पंक्ति मे चले गए हैं, लताओं का कैसा सुदर मडप-सा बन गया है, कैसी शीतल, मद, सुगध हवा चल रही है", उनका प्रेम कोई प्रेम नही—उसे अधूरा समझना चाहिए। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखा-

पन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। उनका हृदय मनुष्य-प्रवर्तित व्यापारों में पड़कर इतना कुठित हो गया है कि उसमें, उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों मे, जिनमे अत्यत आदिम काल में मनुष्य-जाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था, तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारो मे, जिनमें वन्य दशा से निकलकर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिए लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई। अथवा यों कहिए कि उनमे करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अतस्सज्ञावर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई, जिसे वासना या सस्कार कहते हैं। वे तड़क भड़क सजावट, रगों की चमक-दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हो, पर सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।

काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं), उसके साधन में भी अहकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहकार से पीछा न छूटेगा, तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फारस की इस महफिली शायरी का कुसस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है, जिसमे चमन, गुल, बुल-बुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप मे होता है—कोह, बयाबान आदि का उल्लेख किसी भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसग में मिलता है। फारस में क्या

और पेड़-पौदे नहीं होते ? पर उनसे वहा के शायरों को कोई मतलब नहीं। अलबुर्ज-जैसे सुंदर पहाड़ का विशद वर्णन किस फारसी-काव्य मे है ? पर इधर वाल्मीकि को देखिए। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन में केवल मजरियो से छाए हुए रसालो, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती-लताओं, मकरंद-पराग-पूरित सरोजो का ही वर्णन नहीं किया, इगुदी, अकोट, तेंदू, बबूल और बहेड़े आदि जगली पेडो का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार योरप के कवियों ने भी अपने गाँव के पास मे बहते हुए नाले के किनारे उगनेवाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखो मे आँसू भरकर लिया है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापार-गर्त से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र मे ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति मे नहीं है—भारत और योरप की पद्धति मे है।

भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिये काव्य में कहीं-कहीं असाधारणत्व अवश्य अपेक्षित होता है, पर उतनी ही मात्रा में, जितनी मे प्रकृत भाव दबने न पावे। इस उत्कर्ष के लिए कहीं-कहीं असाधारणत्व पहले आलबन में अधिष्ठित होकर भाव के उत्कर्ष का कारण-स्वरूप होता है। पर यह कहा जा चुका है कि भावो के उत्कर्ष के लिये भी सर्वत्र आलबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गभीर-से-गभीर भावो का आलबन हो सकती है। साहचर्य-जन्य प्रेम कितना बलवान् होता है, उसमें वृत्तियों को तल्लीन करने की कितनी शक्ति होती

है, यह सब लोग जानते हैं, पर वह असाधारणत्व पर अवलंबित नहीं होती। जिनका हमारा लडकपन में साथ रहा है, जिन पेडो के नीचे, जिन टीलो पर, जिन नदी-नालों के किनारे, हम अपने साथियो को लेकर बैठा करते थे, उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन-भर स्थायी होकर बना रहता है। अत चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है, वहीं रस का परिपाक होता है, अन्यत्र नहीं।

केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ-साथ, जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरो की वश-परपरागत स्मृति वासना के रूप मे बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र मे विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय कहे जा सकते हैं। पहले कह आए हैं कि वन्य और ग्रामीण, दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनो पेड-पौदों, पशु-पक्षियो, नदी-नालो और पर्वत मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अत प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सबध रखते हैं। हम पेड पौदो और पशु-पक्षियों से सबध तोड़कर नगरो मे आ बसे, पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हे हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बद करते हैं, और कभी-कभी मन बहलाने को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोडते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों में सुख से सोते हैं। गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते

घर की रखवाली करते हैं और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोडकर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुरखी-चूने की कड़ाई की पर्वा न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढती हुई आती है, और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर-दूर भागते फिरते हो ?

पहले कहा जा चुका है कि रस के सयोजक जो विभाव आदि हैं, वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना का पूर्ण विकास उन्हीं मे देखना चाहिए। पर वहाँ कल्पना को कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना पडता है, उसकी श्रेष्ठता कवि की सहृदयता से सबध रखती है, अत उस कृत्रिमता के काल में, जिसमें कविता केवल अभ्यास-गम्य समझी जाने लगी, कल्पना का प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप सघटित करने में कम होकर अलकार आदि बाह्य आडबर फैलाने मे अधिक होने लगा। पर विभावन द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण-रूप से हो ले, तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु-चित्र-मय होता है, अत जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलबन होती है, वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है। पिछले कवियो में इस वस्तु-चित्र का विस्तार क्रमश कम होता गया। प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे रूपों की योजना करने में, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने में, प्रयुक्त होती थी,

जिनसे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था, और जो श्रोता के भाव का स्वय आलबन होती थीं। वे जिन दृश्यो को अकित कर गए हैं, उनके ऐसे ब्योरों को उन्होंने सामने रक्खा है, जिनसे एक भरा-पुरा चित्र सामने आता है। ऐसे दृश्य अकित करने के लिये प्रकृति से सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है, उसके स्वरूप में इस प्रकार तल्लीन होना पडता है कि एक-एक ब्योरे पर ध्यान जाय। उन्हें इस बात का अनुभव रहता था कि कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक-एक वस्तु और व्यापार का सश्लिष्ट-रूप में भरना जितना जरूरी है, उतना उपमा आदि ढूँढना नहीं। इसी से उनके चित्र भरे-पुरे है, और इधर के कवियों ने जहाँ परपरा पालन के लिये ऐसे चित्र, खींचे भी हैं, वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं। उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सके) ऐसे ही हुए हैं, जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोडा हुआ चित्र, जिसमे कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ—कहीं कुछ रग भरा जा सका है, कहीं जगह खाली है। चित्रकला के प्रयोग द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है। वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन को लीजिए, और जो-जो वस्तुएँ आती जायँ, उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी का भागवत से लिया गया वर्षा-वर्णन लेकर ऐसा ही कीजिए, और दोनों चित्रों को इस बात का ध्यान रखकर मिलाइए कि किष्किंधा की पर्वत स्थली के चित्र हैं।

वाल्मीकिजी भी बीच-बीच में उपमाएँ देते गए हैं, पर उससे उनके सूक्ष्म-निरीक्षण में कसर नहीं आने पाई है। वर्षा में पर्वत की गेरू से मिलकर नदियों की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओं पर गिरकर छितराना, पेड़ों पर गिरे वर्षा के जल का पत्तियों की नोकों पर से बूँद-बूँद टपकना और पक्षियों का उसे पीना, हेमंत में कमलों के नाल-मात्र का खड़ा रहना और उसके छोर पर केसर का छितराना, ऐसे ऐसे व्यापारों को वह सामने लाते चले गए हैं। सुंदर-कांड के पाँचवें सर्ग में जो छोटा-सा 'चंद्र-नामा' है, वह इसके विरोध में नहीं उपस्थित किया जा सकता, क्योंकि वह एक प्रकार की स्तुति या वर्णन-मात्र है। वहाँ कोई दृश्यचित्रण नहीं है।

विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी कभी किस प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है, इसका जैसा सुंदर उदाहरण आदि-कवि ने दिया है, वह वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले। पंचवटी में आश्रम बनाकर हेमंत में जब लक्ष्मण एक एक वस्तु और प्राकृतिक व्यापार का निरीक्षण करने लगे, उस समय पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी उन्हें ऐसी दिखाई पड़ी, जैसी धूप से साँवली पड़ी हुई सीता—

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से, या उसके कुछ पहले ही से, दृश्य-वर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल वर्णन में तो वस्तु वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक

नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन।

रीति-ग्रंथों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमश यह ढंग ज़ोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु व्यापार का सूक्ष्म-निरीक्षण धीरे-धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या-क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नहीं रह गया, 'आप्त-शब्द' हुआ।

कहना नहीं होगा कि हिंदी के कवियों के हिस्से में यही आया। गिनो गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण-मात्र करना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्मरूप-विवरण और आधार आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ 'बिंब-ग्रहण' कराना नहीं।

ऋतु वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों को देखा देखी दंगल का शौक़ पैदा हुआ। राजसभाओं में ललकारकर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्याएँ दी जाने लगीं, और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्‌भुत-अद्‌भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे।

जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी, वह बाजीगर का तमाशा करने लगी। होते-होते यहाँ तक हुआ कि 'पिपीलिका नृत्यति वह्निमध्ये' और 'मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे' की नौबत आ गई।

दृश्य-वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है, इसकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है। एक

पर्वत-स्थली का दृश्य वर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने-दो महीने पीछे उससे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिए कहिए। आप देखेंगे कि उस सपूर्ण दृश्य की सुसगत योजना करने वाला वस्तुओं और व्यापारों में से वह बहुतों को कह जायगा, पर आपकी दी हुई उपमाओं में से शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा, उसका सस्कार बना रहा, और इसलिये सकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हुई, शेष अश छूट गया।

खेद के साथ कहना पडता है कि हिंदी की कविता का उत्थान उस समय हुआ, जब सस्कृत-काव्य लक्ष्य-च्युत हो चुका था। इसी से हिंदी की कविताओं मे प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नही मिलता, जो सस्कृत की प्राचीन कविताओ में पाया जाता है। केशव के पीछे तो प्रबध-काव्यों का बनना एक प्रकार से बद ही हो गया। आचार्य बनने का ही हौसला रह गया, कवि बनने का नहीं। अलकार और नायिका-भेद के लक्षण-ग्रथ लिखकर अपने रचे उदाहरण देने में ही कवियों ने अपने कार्य की समाप्ति मान ली। ऐसे फुटकल पद्य-रचयिताओं की परिमित कृति मे प्राकृतिक दृश्य ढूँढना ही व्यर्थ है। शृगार के उद्दीपन के रूप में 'षट्ऋतु' का वर्णन अवश्य कुछ मिलता है, पर उसमे बाह्य प्रकृति के रूपों का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नही होता, नायक-नायिका का प्रमोद या सताप ही मुख्य

होता है। अब रहे दो-चार आख्यान-काव्य। उनमे दृश्य-वर्णन को स्थान ही बहुत कम दिया गया है। अगर कुछ वर्णन परंपरा-पालन की दृष्टि से है भी, तो वह अलंकार-प्रधान है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार इस बात की स्पष्ट सूचना दे रही है कि कवि का मन दृश्यो के प्रत्यक्षीकरण मे लगा नहीं है, उचट-उचटकर दूसरी ओर जा पड़ा है।

कोई एक वस्तु सामने आई कि उपमा के पीछे परेशान। श्याम के 'छबीले मुख' का प्रसंग आया। बस, अंधे सूरदास चारो ओर उपमा टटोल रहे हैं—

> बलि-बलि जाऊँ छबीले मुख की, या पटतर को को है ?
> या बानक उपमा दीबे को सुकवि कहा टकटोहै ?

उपमाएँ यदि मिलती गई, तब तो सब ठीक ही ठीक, एक वस्तु के ऊपर उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादते चले जा रहे हैं। 'हरि-कर राजत माखन, रोटी', बस, इतनी ही-सी तो बात है, उस पर—

> मनो वारिज ससि बैर जानि जिय गह्यो सुधाशुहि घोटी,
> मनो वराह भूधर-सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी।

एक छोटी-सी रोटी की हकीकत ही कितनी, उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझ लाकर रख दिया! उपमाएँ यदि न मिलीं, तो बस, 'शेष, शारदा' पर फिरे, उनकी इज्जत लेने पर उतारू!

मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' यद्यपि एक आख्यान-

काव्य है, पर उसमें भी स्थल-वर्णन सूक्ष्म नहीं है। सिंहल-द्वीप के गढ़, राज-द्वार, बगीचे आदि का वर्णन है। बगीचे के वर्णन में पेड़ों और चिड़ियों की फेहरिस्त है, जो बहेलियों और मालियों से भी मिल सकती है। प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के सयोग-सुख के सबध में 'षट्ऋतु' और नागमती की विरह-वेदना के प्रसग में 'बारहमासा' अलबत है। दोनों का ढंग वही है, जो ऊपर कहा गया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी के भक्ति-पूर्ण हृदय में भगवान रामचद्र के सबध से चित्रकूट के प्रति जो प्रेम-भाव प्रतिष्ठित था, उसके कारण उन्होंने उसके रम्य स्वरूप पर अधिक दृष्टि जमाई है। नीचे दिए हुए वर्णन में यद्यपि प्रचलित रीति के अनुसार प्रत्येक वस्तु और व्यापार के साथ दृष्टांत और उत्प्रेक्षा लगी हुई है, पर निरीक्षण बहुत अच्छा है—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत,
बरषा ऋतु प्रवेस विसेष गिरि देखत मन अनुराग।
चहुँ दिसि बन सपन्न, विहग-मृग बोलत सोभा पावत,
जनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृगनि,
मनहुँ आदि अभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृगनि।
सिखर परसि घन-घटहि मिलति बग पाँति सो छबि कवि बरनी,
आदि बराह बिहरि, बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन प्रतिबिंब तरग,

नहीं ले लिया है, वह ऊपर उठे हुए शृंग पर दिखाया गया है, और यह शृंग भी गेरू के रंग में रँगा हुआ है। इसी प्रकार 'जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग' में शिलाओं का धुलकर स्वच्छ होना, उन पर बरसाती पानी का लगना, स्वच्छता के कारण उनमें आकाश और वन का प्रतिबिंब दिखलाई पड़ना, इतनी बातों की एक वाक्य में संबंध-योजना पाई जाती है।

केशवदासजी को अपने श्लेष, यमक और उत्प्रेक्षा इत्यादि से फुरसत कहाँ कि विस्तृत संबंध-योजना के साथ प्रकृति का निरीक्षण करने जायँ। सीधी तरह से कुछ वस्तुओं का नाम ले जायँ, यही गनीमत है—

फल-फूलन-पूरे, तरुवर रूरे, कोकिल-कुल कलरव बोलैं,
अति मत्त मयूरी, पियरस-पूरी, बन-बन प्रति नाचति डोलैं।

देखिए दंडक वन के वर्णन में श्लेष का यह चमत्कार दिखा-कर आप चलते हुए—

सोभत दंडक की रुचि बनी, भाँतिन-भाँतिन सुंदर घनी।
सेव बड़े नृप की जनु लसै, श्रीफल भूरिभाव जहँ बसै।
बेर भयानक-सी अति लगै, अर्क-समूह जहाँ जगमगै।

'बेर', 'घनी', 'श्रीफल' और 'अर्क' शब्दों में श्लेष की कारीगरी दिखा दी, बस, हो गया। वन [illegible] उनका अनुराग तो था नहीं कि उसके [illegible] के दिखाते। 'भयानक' [illegible]

सूचक नहीं है, क्योंकि न तो 'बेर' ही कोई भयकर वस्तु है, न आक (मदार) ही। श्लेष से 'अर्क' का अर्थ सूर्य लेने से 'समूह' के कारण प्रलय-काल का अर्थ निकलता है, जो प्रस्तुत नहीं है। दडक-वन क्या दे देता—'आनद' दे सकता था, वह भी नहीं देता था—जो उसके रूप का विश्लेषण केशवदासजी करने जाते ? राजा की सेवा से 'श्री-फल' प्राप्त होता था उसका ज़िक्र मौजूद है।

जब केशवदासजी का यह हाल है, तब फुटकल पद्य कहने-वाले उनके अनुयायी 'कविंदों' मे प्रकृति का रूप-विश्लेषण ढूँढना ही व्यर्थ है। ऋतु-वर्णन की पुरानी रीति उन्होंने निबाही है। उनके वर्णन में उद्दीपन-भर के लिये फुटकल वस्तुएँ आई हैं, सो वे भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की भीड मे छिपी हुई हैं। वसत कहीं राजा होकर आया है, कहीं फौजदार, कहीं कुछ, कहीं कुछ। किसी ने कुछ बढकर हाथ मारा, तो शिशिर और ग्रीष्म-ऋतु मे जो अपने शरीर की दशा देखी, उस का वर्णन कर दिया, और उपचार का नुस्खा कह गए—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम-जाम अति तापिनी,
भींजे खस बीजन झुलाए न सुखात सेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी।
"ग्वाल" कवि कहै कोरे कुंभन तें कूपन तें
लै-लै जलधार बार-बार मुख थापिनी,

जब पियो, तब पियो, अब पियो, फेरि अब,
पीवत-हू-पीवत बुझै न प्यास पापिनी।

गरमी के मौसम के लिये एक कविजी राय देते हैं—

सीतल गुलाब जल भरि चहबच्चन में
डारि कै कमल-दल न्हाइवे को धँसिए।
'कालिदास' अंग-अंग अगर-अतर-संग
केसर, उसीर-नीर, घनसार घँसिए,
जेठ में गोविंदलाल चंदन के चहलन
भरि-भरि गोकुल के महलन बसिए।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि इन कवियो में कहीं प्रकृति का निरीक्षण मिलेगा ही नही। मिलेगा, पर थोड़ा, और वह भी बहुत ढूढने पर कहीं एकाध जगह। जैसे—

वृष को तरनि-तेज सहसौ किरन तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है,
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पथी, पछी बिरमत है।
'सेनापति' नेक दुपहरी ढरकत होत
घमका विषम, जो न पात खरकत है,
मेरे जान,पौन सीरे ठौर को पकरि कोऊ,
घरी एक बैठि कहूँ घामै वितवत है।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय से हमारी भाषा नए मार्ग पर आ खड़ी हुई, पर दृश्य-वर्णन में कोई संस्कार नहीं हुआ।

वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की प्रणाली का अध्ययन करके सुधार का यत्न नहीं किया गया। भारतेंदुजी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उनकी तल्लीनता अधिक पाई जाती है, बाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता। 'सत्य हरिश्चंद्र' में गंगा का और 'चंद्रावली' में यमुना का वर्णन अच्छा कहा जाता है। पर ये दोनों वर्णन भी पिछले खेवे के कवियों की परंपरा के अनुसार ही हैं। इनमें भी एक-एक साथ कई वस्तुओं और व्यापारों की सूक्ष्म संबंध-योजना नहीं है, केवल वस्तुओं और व्यापारों के पृथक् पृथक् कथन के साथ उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्राचुर्य है।

मैं समझता हूँ, अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतंत्र आलंबन हैं, उनमें सहृदयों के लिये सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अंतर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे, उनमें जीवन के मूल-स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की-सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे, 'सीतल गुलाब-जल भरि चह-बच्चन में' बैठे हुए कविजी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में

बैठकर जीभ निकाल-निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढे 'गुलगुली गिलमें, गलीचा' बिछाकर बैठे हुए स्वाँग से धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में एंजिन चलाते हुए देसी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो, तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

मनुष्य की आकृति और मुद्रा के चित्रण के लिये भी काव्य-क्षेत्र में पूरा मैदान पड़ा है। आकृति-चित्रण का अत्यंत उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए, जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों में हम भेद कर सके। जैसे, दो सुंदरियों की आँख, कान, नाक, भौं, कपोल, अधर, चिबुक इत्यादि सब अंगों को लेकर हमने वर्णन द्वारा दो अलग-अलग चित्र खींचे। फिर दोनों वर्णनों को किसी और के हाथ में देकर हमने उन दोनों स्त्रियों को उसके सामने बुलाया। यदि वह बतला दे कि 'यह इसका वर्णन है, और यह उसका', तो समझिए कि पूर्ण सफलता हुई। योरप के उपन्यासों में इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न दिखाई पड़ता है, पर हमारे यहाँ अभी इधर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। मुद्रा चित्रित करने में गोस्वामी तुलसीदासजी अत्यंत कुशल दिखाई पड़ते हैं। मृग पर चलाने के लिए तीर खींचे हुए रामचंद्रजी को देखिए—

'जटा-मुकुट सिर, सारस-नयननि गौहैं तकत सुभौंह सिकोरे।'

इसी प्रकार राम के आगमन की प्रतीक्षा मे शबरी—

'छन भवन, छन बाहर बिलोकति पथ भ्रू पर पानि के।'

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने 'भाव' अंकित कर गए हैं, उनके सामने अपने को पाकर मानों हम उन पूर्व पुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं, और उसी प्रकार के भावो का अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने जहा अपना दखल नही जमाया है, उन जगलों, पहाड़ों, गाँवों और मैदानों मे हम अपने को वाल्मीकि, कालिदास, या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं, कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी-कदराओं मे, प्रभात के प्रफुल्ल पद्म-जाल में, छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखे कालिदास, भवभूति आदि की आँखों से जा मिलती हैं। पलाश, इगुदी, अकोट वनों में अब भी खड़े हैं, सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं, तालावों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर शाखाएँ अब भी झुक-झुककर तीर का नीर चूमती हैं, पर हमारी आँखें उनकी ओर भूलकर भी नहीं जातीं, हमारे हृदय से मानों उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को अब हम नहीं देख सकते। उनकी आकृति वहन करनेवाला आलोक अब न जाने किस लोक मे पहुँचा होगा, पर ऐसी वस्तुएँ अब भी हम देख सकते हैं, जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। सिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए

प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए। इधर उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदासजी हमें देर तक देखा करते थे, उस समय 'सिप्रा-वात' उनके उत्तरीय को फहराता था। काली शिलाओं पर से बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खँडहरों में वे ईंट-पत्थर अब भी पड़े हुए हैं, जिन पर अंगराग-लिप्त शरीर और सुगंध-धूम से बसे केश-कलापवाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे।

बिजली से जगमगाते हुए नए अंगरेजी ढंग के शहरों में, धुआँ उगलती हुई मिलों और व्हाइटवे लेडला की दूकान के सामने, हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं। पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेद-भाव मिट जाता है. हम सामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिर-काल-व्यापी शुद्ध 'मनुष्यत्व' का अनुभव करते हैं, किसी विशेष-काल-बद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

अब तक जो कुछ कहा गया, उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि काव्य मे 'आलंबन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया, जिनसे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं, जिनमे भावो को प्रदर्शित करनेवाले पात्र, अर्थात् 'आश्रय', की योजना नही की गई है—

केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिए गए हैं, जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं। यदि किसी कवि ने किसी दृश्य का पूर्ण चित्रण करके रख दिया, तो क्या वह इसीलिए काव्य न कहलावेगा कि उसके वर्णन के भीतर कोई पात्र उस दृश्य से प्राप्त आनंद या शोक को अपने शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकट करनेवाला नहीं है ?

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिनाकर किसी प्रकार 'रस' की शर्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे, तब से यह बात कुछ भूल-सी चली कि कवियों का मुख्य कार्य ऐसे विषयों को सामने रखना है, जो श्रोता के विविध भावों के आलंबन हो सकें। सच पूछिए, तो काव्य में अंकित सारे दृश्य श्रोता के भिन्न-भिन्न भावों के आलंबन स्वरूप होते हैं। किसी पात्र को रति, हास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रस-परिपाक मानना और यह समझना कि श्रोता को पूरी रसानुभूति हो गई, बुरा हुआ। श्रोता या पाठक के भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है, सो केवल दूसरों का हँसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिये ही नहीं, बल्कि ऐसे विषयों को सामने पाने के लिये, जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों।



महातीर्थ

[श्रीप्रेमचन्द]

---

(१)

मुंशी इन्द्रमणि की आमदनी कम थी और खर्च ज्यादा। अपने बच्चे के लिए दाई रखने का खर्च न उठा सकते थे, लेकिन एक तो बच्चे की सेवा-सुश्रूषा की फिक्र और दूसरे अपने बराबरवालों से हेठे बनकर रहने का अपमान, इस खर्च को सहने पर मजबूर करता था। बच्चा दाई को बहुत चाहता था, हरदम उसके गले का हार बना रहता था, इसलिए दाई और भी जरूरी मालुम होती थी। पर शायद सबसे बडा कारण यह था कि वह मुरौवत के वश दाई को जबाब देने का साहस नहीं कर सकते थे। बुढिया उनके यहाँ तीन साल से नौकर थी। उसने उनके एकलौते लडके का लालन-पालन किया था। अपना काम बडी मुस्तैदी और परिश्रम से करती थी। उसे निकालने का कोई बहाना नहीं था और व्यर्थ खुचड निकालना इन्द्रमणि-जैसे भले आदमी के स्वभाव के विरुद्ध था। पर सुखदा इस संबध में अपने पति से सहमत न थी, उसे संदेह था कि दाई हमें लूटे लेती है। जब दाई बाजार से लौटती तो वह दालान में छिपी रहती कि देखूँ आटा कहीं छिपाकर तो नहीं रख देती, लकडी तो नहीं

छिपा देती। उसकी लाई हुई चीजों को घटों देखती, पूछ-ताछ करती। बार-बार पूछती, इतनी ही क्यों? क्या भाव है? क्या इतना महँगा हो गया? दाई कभी तो इन सदेहात्मक प्रश्नों का उत्तर नम्रतापूर्वक देती, किंतु जब कभी बहूजी ज्यादा तेज हो जातीं तो वह भी कडी पड जाती थी। शपथें खाती। सफाई की शहादतें पेश करती। वाद-विवाद में घटों लग जाते थे। प्राय: नित्य यही दशा रहती थी और प्रतिदिन यह नाटक दाई के अश्रुपात के साथ समाप्त होता था। दाई का इतनी सख्तियाँ झेलकर पडे रहना सुखदा के सदेह को और भी पुष्ट करता था। उसे कभी विश्वास नहीं होता था कि यह बुढिया केवल बच्चे के प्रेमवश पड़ी हुई है। वह बुढिया को इतनी बाल-प्रेमशीला नहीं समझती थी।

(२)

सयोग से एक दिन दाई को बाजार से लौटने में जरा देर हो गई। वहाँ दो कुजडिनों मे देवासुर सग्राम मचा था। उनका चित्रमय हाव-भाव, उनका आग्नेय तर्क-वितर्क, उनके कटाक्ष और व्यग सब अनुपम थे। विष के दो नद थे या ज्वाला के दो पर्वत, जो दोनो तरफ से उमड़कर आपस में टकरा गये थे। वाक्य क्या प्रवाह था, कैसी विचित्र विवेचना! उनका शब्द-बाहुल्य, उनकी मार्मिक विचारशीलता, उनके अलकृत शब्द-विन्यास और उनकी उपमाओं की नवीनता पर ऐसा कौनसा कवि है जो मुग्ध न हो जाता। उनका धैर्य, उनकी शाति विस्मयजनक थी। दर्शकों की

एक खासी भीड थी। वह लाज को भी लज्जित करनेवाले इशारे, वह अश्लील शब्द जिनसे मलिनता के भी कान खडे होते। सहस्रो रसिकजनो के लिए मनोरजन की सामग्री बने हुए थे।

दाई भी खडी हो गई कि देखूँ क्या मामला है। तमाशा इतना मनोरजक था कि उसे समय का बिलकुल ध्यान न रहा। एकाएक जब नौ के घटे की आवाज कान में आई तो चौंक पडी और लपकी हुई घर की ओर चली।

सुखदा भरी बैठी थी। दाई को देखते ही त्योरी बदलकर बोली—क्या बाजार मे खो गई थी।

दाई विनयपूर्ण भाव से बोली—एक जान-पहचान की महरी से भेंट हो गई। वह बातें करने लगी।

सुखदा इस जवाब से और भी चिढकर बोली—यहाँ दफ्तर जाने को देर हो रही है और तुम्हे सैर-सपाटे की सूझती है।

परतु दाई ने इस समय दबने ही मे कुशल समझी, बच्चे को गोद मे लेने चली, पर सुखदा ने झिड़ककर कहा—रहने दो, तुम्हारे बिना वह व्याकुल नहीं हुआ जाता।

दाई ने इस आज्ञा को मानना आवश्यक नहीं समझा। बहूजी का क्रोध ठढा करने के लिए इससे उपयोगी और कोई उपाय न सूझा। उसने रुद्रमणि को इशारे से अपने पास बुलाया। वह दोनों हाथ फैलाए लडखडाता हुआ उसकी ओर चला। दाई ने उसे गोद में उठा लिया और दरवाजे की तरफ चली। लेकिन सुखदा बाज की तरह झपटी और रुद्र को उसकी गोदी से छीनकर

बोली—तुम्हारी यह धूर्त्तता बहुत दिनों से देख रही हूँ। यह तमाशे किसी और को दिखाइए। यहाँ जी भर गया।

दाई रुद्र पर जान देती थी और समझती थी कि सुखदा इस बात को जानती है। उसकी समझ में सुखदा और उसके बीच यह ऐसा मजबूत संबंध था जिसे साधारण झटके तोड़ न सकते थे। यही कारण था कि सुखदा के कटु वचनों को सुनकर भी उसे यह विश्वास न होता था कि वह मुझे निकालने पर प्रस्तुत है, पर सुखदा ने यह बातें कुछ ऐसी कठोरता से कही और रुद्र को ऐसी निर्दयता से छीन लिया कि दाई से सह्य न हो सका। बोली—बहूजी मुझसे कोई बड़ा अपराध तो नहीं हुआ, बहुत तो पाव घंटे की देर हुई होगी। इस पर आप इतना बिगड़ रही हैं तो साफ क्यों नहीं कह देतीं कि दूसरा दरवाजा देखो। नारायण ने पैदा किया है तो खाने को भी देगा। मजदूरी का अकाल थोड़े ही है।

सुखदा ने कहा—तो यहाँ तुम्हारी परवाह ही कौन करता है। तुम्हारी-जैसी लौंडिनें गली-गली ठोकरें खाती फिरती हैं।

दाई ने जवाब दिया—हाँ, नारायण आपको कुशल से रक्खें। लौंडिनें और दाइयाँ आपको बहुत मिलेंगी। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ हो क्षमा कीजिएगा। मैं जाती हूँ।

सुखदा—जाकर मरदाने में अपना हिसाब साफ कर लो।

दाई—मेरी तरफ से रुद्र बाबू को मिठाइयाँ मँगवा दीजिएगा।

इतने में इंद्रमणि भी बाहर से आ गये। पूछा क्या है क्या?

दाई ने कहा—कुछ नहीं। वहूजी ने जवाब दिया है, घर जाती हूँ।

इद्रमणि गृहस्थी के जजाल से इस तरह बचते थे जैसे कोई नगे पैरवाला मनुष्य कॉटो से वचे। उन्हे सारे दिन एक ही जगह खडे रहना मजूर था, पर काँटों में पैर रखने की हिम्मत न थी। खिन्न होकर बोले—बात क्या हुई?

सुखदा ने कहा—कुछ नहीं। अपनी इच्छा। नहीं जी चाहता नहीं रखते। किसी के हाथों विक तो नहीं गये।

इद्रमणि ने मुंझलाकर कहा—तुम्हे बैठे-बैठाये एक-न एक खुचड सूझती ही रहती है।

सुखदा ने तिनककर कहा—हॉ, मुझे तो इसका रोग है। क्या करूँ स्वभाव ही ऐसा है। तुम्हे यह बहुत प्यारी है तो ले जाकर गले में बाँध लो, मेरे यहॉ जरूरत नहीं है।

(३)

दाई घर से निकली तो आँखे डबडबाई हुई थीं। हृदय रुद्रमणि के लिए तडप रहा था। जी चाहता था कि एक बार वालक को लेकर प्यार कर लूँ, पर यह अभिलापा लिये ही उसे घर से वाहर निकलना पडा।

रुद्रमणि दाई के पीछे-पीछे दरवाजे तक आया, पर दाई ने जब दरवाजा बाहर से बद कर दिया तो वह मचलकर जमीन पर लोट गया और अन्ना-अन्ना कहकर रोने लगा। सुखदा ने चुमकारा, प्यार किया, गोद में लेने की कोशिश की, मिठाई देने का लालच

दिया, मेला दिखाने का वादा किया, इससे जब काम न चला तो बंदर, सिपाही, लूलू और हौआ की धमकी दी। पर रुद्र ने वह रौद्र भाव धारण किया कि किसी तरह चुप न हुआ। यहाँ तक कि सुखदा को क्रोध आ गया, बच्चे को वहीं छोड़ दिया और आकर घर के धंधे में लग गई। रोते-रोते रुद्र का मुँह और गाल लाल हो गये, आँखें सूज गईं। निदान वह वहीं जमीन पर सिसकते-सिसकते सो गया।

सुखदा ने समझा था कि बच्चा थोड़ी देर में रो-धोकर चुप हो जायगा, पर रुद्र ने जागते ही अन्ना की रट लगाई। तीन बजे इन्द्रमणि दफ्तर से आये और बच्चे की यह दशा देखी तो स्त्री की तरफ कुपित नेत्रों से देखकर उसे गोद में उठा लिया और बहलाने लगे। जब अंत में रुद्र को यह विश्वास हो गया कि दाई मिठाई लेने गई है तो उसे संतोष हुआ।

परन्तु शाम होते ही उसने फिर झींखना शुरू किया—अन्ना मिठाई ला।

इस तरह दो-तीन दिन बीत गये। रुद्र को अन्ना की रट लगाने और रोने के सिवा और कोई काम न था। वह शांत प्रकृति कुत्ता जो उसकी गोद से एक क्षण के लिए भी न उतरता था, वह मौन व्रतधारी बिल्ली जिसे ताख पर देखकर वह खुशी से फूला न समाता था, पखहीन वह चिड़िया जिसपर वह जान देता था, सब उसके चित्त से उतर गये। वह उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता। अन्ना-जैसी जीती-जागती, प्यार करने-

वाली, गोद में लेकर घुमानेवाली, थपक-थपककर सुलानेवाली, गा-गाकर खुश करनेवाली चीज का स्थान इन निर्जीव चीजों से पूरा न हो सकता था। वह अकसर सोते-सोते चौंक पडता और अन्ना-अन्ना पुकारकर हाथों से इशारा करता, मानो उसे बुला रहा है। अन्ना की खाली कोठरी मे घटों बैठा रहता। उसे आशा होती कि अन्ना यहाँ आती होगी। इस कोठरी का दरवाजा खुलते सुनता तो 'अन्ना! अन्ना!' कहकर दौडता। समझता कि अन्ना आ गई। उसका भरा हुआ शरीर घुन गया, गुलाब-जैसा चेहरा सूख गया, माँ और बाप उसकी मोहनी हँसी के लिए तरस-कर रह जाते थे। यदि बहुत गुदगुदाने या छेडने से हँसता भी तो ऐसा जान पडता था कि दिल से नहीं हँसता, केवल दिल रखने के लिए हँस रहा है। उसे अब दूध से प्रेम नहीं था, न मिश्री से, न मेवे से, न मीठे बिस्कुट से, न ताजी इमरतियों से। उनमे मजा तब था जब अन्ना अपने हाथों से खिलाती थी। अब उनमें मजा नहीं था। दो साल का लहलहाता हुआ संदर पौधा मुर्झा गया। वह बालक जिसे गोद में उठाते ही नरमी, गरमी और भारी-पन का अनुभव होता था, अब सूखकर काँटा हो गया था। सुखदा अपने बच्चे की यह दशा देखकर भीतर-ही-भीतर कुढती और अपनी मूर्खता पर पछताती। इद्रमणि जो शांतिप्रिय आदमी थे अब बालक को गोद से अलग न करते थे, उसे रोज साथ हवा खिलाने ले जाते थे, नित्य नये खिलौने लाते थे। पर वह मुर्झाया हुआ पौधा किसी तरह भी न पनपता था। दाई

उसके लिए संसार का सूर्य थी। उस स्वाभाविक गर्मी और प्रकाश से वंचित रहकर हरियाली की बहार कैसे दिखाता? दाई के बिना उसे अब चारों ओर अँधेरा और सन्नाटा दिखाई देता था। दूसरी अन्ना तीसरे ही दिन रख ली गई थी, पर रुद्र उस की सूरत देखते ही मुँह छिपा लेता था, मानो वह कोई डाइन या चुड़ैल है।

प्रत्यक्ष रूप में दाई को न देखकर रुद्र अब उसकी कल्पना में मग्न रहता। वहाँ उसकी अन्ना चलती फिरती दिखाई देती थी। उसके वही गोद थी, वही स्नेह, वही प्यारी-प्यारी बातें, वही प्यारे गाने, वही मजेदार मिठाइयाँ, वही सुहाना संसार, वही आनंदमय जीवन। अकेले बैठकर कल्पित अन्ना से बातें करता, अन्ना, कुत्ता भूके। अन्ना, गाय दूध देती। अन्ना, उजला उजला घोड़ा दौड़े। सवेरा होते ही लोटा लेकर दाई की कोठरी में जाता और कहता, अन्ना, पानी। दूध का गिलास लेकर उसकी कोठरी मे रख आता और कहता, अन्ना दूध पिला। अपनी चारपाई पर तकिया रखकर चादर से ढाक देता और कहता, अन्ना, सोती है। सुखदा जब खाने बैठती तो कटोरे उठा-उठाकर अन्ना की कोठरी में ले जाता और कहता, अन्ना, खाना खायगी। अन्ना अब उसके लिए एक स्वर्ग की वस्तु थी, जिसके लौटने की अब उसे बिलकुल आशा न थी। रुद्र के स्वभाव में धीरे-धीरे बालकों की चपलता और सजीवता की जगह एक निराशाजनक धैर्य, एक आनंदविहीन शिथिलता दिखाई

देने लगी। इस तरह तीन हफ्ते गुज़र गये। बरसात का मौसिम था। कभी बेचैन करनेवाली गर्मी, कभी हवा के ठंढे झोंके। बुख़ार और ज़ोकाम का ज़ोर था। रुद्र की दुर्बलता इस ऋतु-परिवर्तन को बर्दाश्त न कर सकी। सुखदा उसे फलालैन का कुर्ता पहनाये रखती थी। उसे पानी के पास नहीं जाने देती। नंगे पैर एक क़दम नहीं चलने देती, पर सर्दी लग ही गई। रुद्र को खाँसी और बुख़ार आने लगा।

(४)

प्रभात का समय था। रुद्र चारपाई पर आँखें बंद किये पड़ा था। डाक्टरों का इलाज निष्फल हुआ। सुखदा चारपाई पर बैठी उसकी छाती में तेल की मालिश कर रही थी और इंद्रमणि विषाद मूर्ति बने हुए करुणापूर्ण आँखों से बच्चे को देख रहे थे। इधर सुखदा से वह बहुत कम बोलते थे। उन्हें उससे एक तरह की घृणा-सी हो गई थी। वह रुद्र को इस बीमारी का एक मात्र कारण उसी को समझते थे। वह उनकी दृष्टि में बहुत नीच स्वभाव की स्त्री थी। सुखदा ने डरते-डरते कहा, आज बड़े हकीम साहब को बुला लेते। शायद उनकी दवा से फायदा हो।

इंद्रमणि ने काली घटाओं की ओर देखकर रुखाई से जवाब दिया—बड़े हकीम नहीं, यदि धन्वंतरी भी आवें, तो भी उसे कोई फायदा न होगा।

सुखदा ने कहा—तो क्या अब किसी की दवा ही न होगी ?

इंद्रमणि—बस, इसकी एक ही दवा है और वह अलभ्य है।

सुखदा—तुम्हें तो बस, यही धुन सवार है। क्या बुढिया आकर अमृत पिला देगी ?

इंद्रमणि—वह तुम्हारे लिए चाहे विप हो, पर लडके के लिए अमृत ही होगी।

सुखदा—मैं नहीं समझती कि ईश्वरेच्छा उसके आधीन है ?

इंद्रमणि—यदि नहीं समझती हो और अब तक नहीं समझी तो रोओगी। बच्चे से हाथ धोना पडेगा।

सुखदा—चुप भी रहो, क्या अशुभ मुँह से निकालते हो ? यदि ऐसी ही जली-कटी सुनाना है, तो बाहर चले जाओ।

इंद्रमणि—तो मैं जाता हूँ, पर याद रखो, यह हत्या तुम्हारी ही गर्दन पर होगी। यदि लडके को तदुरुस्त देखना चाहती हो, तो उसी दाई के पास जाओ, उससे विनती और प्रार्थना करो, क्षमा माँगो। तुम्हारे बच्चे की जान उसी की दया के अधीन है।

सुखदा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों से आँसू जारी था।

इंद्रमणि ने पूछा—क्या मर्जी है, जाऊँ उसे बुला लाऊँ ?

सुखदा—तुम क्यों जाओगे, मैं आप चली जाऊँगी।

इंद्रमणि—नहीं क्षमा करो। मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं

है। न-जाने तुम्हारी जबान से क्या निकल पडे कि जो वह आती भी हो, तो न आवे।

सुखदा ने पति की ओर फिर तिरस्कार की दृष्टि से देखा और बोली—हाँ, और क्या मुझे अपने बच्चे की बीमारी का शोक थोडे ही है। मैंने लाज के मारे तुमसे कहा नही, पर मेरे हृदय मे यह बात बार-बार उठी है। यदि मुझे दाई के मकान का पता मालूम होता, तो मैं कभी उसे मना लाई होती। वह मुझसे कितनी ही नाराज हो, पर रुद्र से उसे प्रेम था। मैं आज ही उसके पास जाऊँगी। तुम विनती करने को कहते हो, मैं उसके पैरो पडने के लिए तैयार हूँ। उसके पैरो को आँसुओ से भिगोऊँगी और जिस तरह राजी होगी, राजी करूँगी।

सुखदा ने बहुत धैर्य्य धरकर यह बाते कही, परतु उमडे हुए आँसू अब न रुक सके। इद्रमणि ने स्त्री की ओर सहानुभूति पूर्वक देखा और लज्जित हो बोले—मैं तुम्हारा जाना उचित नहीं समझता, मैं खुद ही जाता हूँ।

(५)

कैलासी ससार में अकेली थी, किसी समय उसका परिवार गुलाब की तरह फूला हुआ था, परतु धीरे-धीरे उसकी सब पत्तियाँ गिर गईं। उसकी सब हरियाली नष्ट-भ्रष्ट हो गई और अब वही एक सूखी हुई टहनी उस हरे-भरे पेड का चिह्न रह गई थी।

परतु रुद्र को पाकर इस सूखी हुई टहनी में जान पड गई

थी। इसमे हरी-भरी पत्तियाँ निकल आई थी। वह जीवन, जो अब तक नीरस और शुष्क था, अब सरस और सजीव हो गया था। अँधेरे जगल मे भटके हुए पथिक को प्रकाश की झलक आने लगी थी। अब उसका जीवन निरर्थक नहीं, वल्कि सार्थक हो गया था।

कैलासी रुद्र की भोली-भाली बातों पर निछावर हो गई, पर वह अपना स्नेह सुखदा से छिपाती थी। इसलिए कि माँ के हृदय में द्वेष न हो। वह रुद्र के लिए माँ से छिपकर मिठाइयाँ लाती और उसे खिलाकर प्रसन्न होती। वह दिन मे दो-तीन बार उसे उबटन मलती कि बच्चा खूब पुष्ट हो। वह दूसरो के सामने उसे कोई चीज नहीं खिलाती कि उसे नजर लग जायगी। सदा वह दूसरों से बच्चे के अल्पाहार का रोना रोया करती। उसे बुरी नजर से बचाने के लिए तावीज और गडे लाती रहती। यह उसका विशुद्ध प्रेम था। उसमे स्वार्थ की गध भी न थी।

इस घर से निकलकर आज कैलासी की वह दशा थी, जो थियेटर में एकाएक विजली के लैम्पों के बुझ जाने से दर्शकों की होती है। उसके सामने वही सूरत नाच रही थी। कानों में वही प्यारी-प्यारी बातें गूंज रही थीं। उसे अपना घर काटे खाता था। उस कालकोठरी मे दम घुटा जाता था।

रात ज्यों-त्यो कर कटी। सुबह को वह घर मे झाड़ू लगा रही थी। एकाएक बाहर ताजे हलुवे की आवाज सुनकर बडी फुर्ती से घर से बाहर निकल आई। तब तक याद आ गया, आज हलुवा

कौन खायगा ? आज गोद में बैठकर कौन चहकेगा ? वह माधुरी मान सुनने के लिए जो हलुवा खाते समय रुद्र की आँखों से, होठों से, और शरीर के एक-एक अग से बरसता था, कैलासी का हृदय तडप गया। वह व्याकुल होकर घर से निकली कि चलूँ रुद्र को देख आऊँ, पर आधे रास्ते से लौट गई।

रुद्र कैलासी के ध्यान से एक क्षण-भर के लिए भी नही उतरता था। वह सोते-सोते चौंक पडती, जान पडता रुद्र डडे का घोडा दबाये चला आता है। पडोसिनों के पास जाती, तो रुद्र ही की चर्चा करती। रुद्र उसके दिल और जान मे बसा हुआ था। सुखदा के कठोरतापूर्ण कुव्यवहार का उसके हृदय में ध्यान नहीं था। वह रोज इरादा करती थी कि आज रुद्र को देखने चलूँगी। उसके लिए बाजार से मिठाइयाँ और खिलौने लाती। घर से चलती पर रास्ते से लौट आती। कभी दो-चार कदम से आगे नही बढा जाता। कौन मुँह लेकर जाऊँ? जो प्रेम को धूर्तता समझता हो, उसे कौनसा मुँह दिखाऊँ? कभी सोचती, यदि रुद्र हमें न पहचाने तो? बच्चों से प्रेम का ठिकाना ही क्या? नई दाई से हिल-मिल गया होगा। यह खयाल उसके पैरो पर जजीर का काम कर जाता था।

इस तरह दो हफ्ते बीत गए। कैलासी का जी उचाट रहता, जैसे उसे कोई लम्बी यात्रा करनी हो। घर की चीजें जहाँ की तहाँ पडी रहती, न खाने की सुध थी न कपडे की। रात-दिन रुद्र ही के ध्यान में डूबी रहती थी। सयोग से इन्हीं दिनों बद्रीनाथ की

यात्रा का समय आ गया। महल्ले के कुछ लोग यात्रा की तैयारियाँ करने लगे। कैलासी की दशा इस समय उस पालतू चिडिया की-सी थी, जो पिंजडे से निकल कर फिर किसी कोने की खोज मे हो। उसे विस्मृति का यह अच्छा अवसर मिल गया। यात्रा के लिए तैयार हो गई।

(६)

आसमान पर काली घटाएँ छाई हुई थी और हल्की-हल्की फुहारें पड रही थीं। देहली स्टेशन पर यात्रियों की भीड थी। कुछ गाडियो पर बैठे थे, कुछ अपने घरवालो से विदा हो रहे थे। चारो तरफ एक हलचल-सी मची थी। ससार-माया आज भी उन्हे जकडे हुए थी। कोई स्त्री को सावधान कर रहा था कि धान कट जावे, तो तालाबवाले खेत मे मटर बो देना और बाग के पास गेहूँ। कोई अपने जवान लडके को समझा रहा था—असामियों पर बकाया लगान की नालिश करने मे देर न करना और दो रुपये सैकडा सूद जरूर काट लेना। एक बूढे व्यापारी महाशय अपने मुनीब से कह रहे थे कि माल आने में देर हो तो, खुद चले जाइयेगा, और चलतू माल लीजियेगा, नही तो रुपया फस जायगा। पर कोई-कोई ऐसे श्रद्धालु मनुष्य भी थे, जो धर्म-मग्न दिखाई देते थे। वे या तो चुपचाप आसमान की ओर निहार रहे थे, या माला फेरने मे तल्लीन थे। कैलासी भी एक गाडी मे बैठी सोच रही थी—इन भले आदमियों को अब भी ससार की चिंता नहीं छोडती। वही बनिज-व्यापार लेन-देन की चर्चा। रुद्र इस समय

यहाँ होता, तो वहुत रोता, मेरी गोदी मे कभी भी न उतरता। लौटकर उसे अवश्य देखने जाऊँगी। या ईश्वर किसी तरह गाड़ी चले। गर्मी के मारे जी व्याकुल हो रहा है। इतनी घटा उमडी हुई है, किंतु बरसाने का नाम नहीं लेती। मालूम नहीं यह रेलवाले क्यों देर कर रहे हैं। झूठमूठ इधर-उधर दौडते फिरते हैं। यह नहीं कि झटपट गाडी खोल दें। यात्रियों की जान-में-जान आए। एकाएक उसने इद्रमणि को वाइसिकिल लिये प्लेटफार्म पर आते देखा। उनका चेहरा उतरा हुआ था और कपडे पसीने से तर थे। वह गाड़ियों में झाँकने लगे। कैलासी केवल यह जताने के लिए कि मैं भी यात्रा करने जा रही हूँ गाडी से वाहर निकल आई। इद्रमणि उसे देखते ही लपककर करीव आ गए और बोले—क्यों कैलासी, तुम भी यात्रा को चली ?

कैलासी ने सगर्व दीनता से उत्तर दिया—हाँ, यहाँ क्या करूँ, जिदगी का कोई ठिकाना नहीं, मालूम नहीं कव आँखें वद हो जायँ। परमात्मा के यहाँ मुँह दिखाने का भी तो कोई उपाय होना चाहिए। रुद्र वावू अच्छी तरह हैं ?

इद्रमणि—अव तो जा ही रही हो। रुद्र का हाल पूछकर क्या करोगी ? उसे आशीर्वाद देती रहना।

कैलासी की छाती धडकने लगी। घवराकर बोली—क्या उनका जी अच्छा नहीं है क्या ?

इद्रमणि—वह तो उसी दिन से बीमार है, जिस दिन तुम

वहाँ से निकली। दो हफ्ते तक तो उसने अम्मा-अम्मा की रट लगाई। अब एक हफ्ते से खाँसी और बुखार में पड़ा है। सारी दवाइयाँ करके हार गया, कुछ फायदा नहीं हुआ। मैंने सोचा था कि चलकर तुम्हारी अनुनय-विनय करके लिवा आऊँगा। क्या जाने तुम्हें देखकर उसकी तबीयत सँभल जाय, पर तुम्हारे घर पर आया, तो मालूम हुआ कि तुम यात्रा करने जा रही हो। अब किस मुँह से चलने को कहूँ। तुम्हारे साथ सलूक ही कौन-सा अच्छा किया, जो इतना साहस करूँ। फिर पुण्य-कार्य्य में विघ्न डालने का भी डर है। जाओ उसका ईश्वर मालिक है। आयु शेष है, तो बच ही जायगा। अन्यथा ईश्वरी गति में किसी का क्या वश।

कैलासी के आँखों के सामने अँधेरा छा गया। सामने की चीजें तैरती हुई मालूम होने लगीं। हृदय भावी अशुभ की आशंका से दहल गया। हृदय से निकल पड़ा—या ईश्वर, मेरे रुद्र का बाल बाँका न हो। प्रेम से गला भर आया। विचार किया कि मैं कैसी कठोर हृदया हूँ। प्यारा बच्चा रो रोकर हलकान हो गया और मैं उसे देखने तक नहीं गई। सुखदा का स्वभाव अच्छा नहीं, न सही, किंतु रुद्र ने मेरा क्या बिगाड़ा था कि मैंने माँ का बदला बेटे से लिया। ईश्वर मेरा अपराध क्षमा करे। प्यारा रुद्र मेरे लिये हुड़क रहा है। (इस ख्याल से कैलासी का कलेजा मसोस उठा था और आँखों में आँसू बह निकले) मुझे क्या मालूम था कि उसे मुझसे इतना प्रेम है।

नहीं मालूम बच्चे की क्या दशा है। भयातुर हो बोली—दूध तो पीते हैं न ?

इद्रमणि—तुम दूध पीने को कहती हो, उसने दो दिन से आँखें तक नहीं खोलीं।

कैलासी—या मेरे परमात्मा ! अरे ओ कुली ! कुली ! बेटा, आकर मेरा सामान गाडी से उतार दे। अब मुझे तीरथ जाना नहीं सूझता। हाँ बेटा, जल्दी कर, बाबूजी देखो कोई एक्का हो, तो ठीक कर लो।

एक्का रवाना हुआ। सामने सडक पर बग्घियाँ खडी थीं। घोडा धीरे-धीरे चल रहा था। कैलासी बार-बार झुँझलाती थी और एक्कावान से कहती थी—बेटा ! जल्दी कर मैं तुझे कुछ ज्यादे दे दूगी। रास्ते में मुसाफिरो की भीड देखकर उसे क्रोध आता था। उसका जी चाहता था कि घोड़े के पर लग जाते, लेकिन इद्रमणि का मकान करीब आ गया, तो कैलासी का हृदय उछलने लगा। बारबार हृदय मे रुद्र के लिए शुभ आशीर्वाद निकलने लगा। ईश्वर करें, सब कुशल-मगल हो। एक्का इद्रमणि की गली की ओर मुडा। अकस्मात् कैलासी के कान में रोने की ध्वनि पडी। कलेजा मुंह को आ गया। सिर में चक्कर आ गया। मालूम हुआ, नदी मे डूबी जाती हूँ। जी चाहा कि एक्के पर से कूद पडे, पर थोडी ही देर में मालूम हुआ कि कोई स्त्री मैके से विदा हो रही है। सतोष हुआ। अत में इद्रमणि का मकान आ पहुचा। कैलासी ने डरते-डरते दरवाजे की तरफ ताका,

जैसे कोई घर से भागा हुआ अनाथ लडका शाम को भूखा-प्यासा घर आए और दरवाजे की ओर सटकी हुई आँखों से देखे कि कोई बैठा तो नहीं है। दरवाजे पर सन्नाटा छाया हुआ था। महाराज बैठा सुरती मल रहा था। कैलासी को जरा ढाढस हुआ। घरमें पैठी, तो नई दाई पुलटिस पका रही है। हृदय में बल का सचार हुआ। सुखदा के कमरे में गई, तो उसका हृदय गर्मी के मध्याह्नकाल के सदृश कॉप रहा था। सुखदा रुद्र को गोद में लिये दरवाजे की ओर एकटक ताक रही थी। शोक और करुणा की मूर्ति बनी थी।

कैलासी ने सुखदा से कुछ नहीं पूछा। रुद्र को उसकी गोद से ले लिया और उसको तरफ सजल नयनों से देखकर कहा—बेटा रुद्र। आँखें खोलो।

रुद्र ने आँखें खोलीं। क्षण भर दाई को चुपचाप देखता रहा। तब एकाएक दाई के गले से लिपटकर बोला—अन्ना आई! अन्ना आई!!

रुद्र का पीला मुर्झाया हुआ चेहरा खिल उठा, जैसे बुझते हुए दीपक में तेल पड़ जाय। ऐसा मालूम हुआ मानों वह कुछ बढ गया।

एक हफ्ता बीत गया। प्रातःकाल का समय था। रुद्र आँगन में खेल रहा था। इन्द्रमणि ने बाहर से आकर उसे गोद में उठा लिया और प्यार से बोले—तुम्हारी अन्ना को मारकर भगा दें।

रुद्र ने मुंह बनाकर कहा—नहीं, रोयेगी।
कैलासी बोली—क्यो बेटा तुमने तो मुझे बद्रीनाथ नहीं जाने दिया। मेरी यात्रा का पुण्य-फल कौन देगा?

इंद्रमणि ने मुस्कराकर कहा—तुम्हें उनसे कहीं अधिक पुण्य हो गया। यह तीर्थ—

महातीर्थ है

गुप्त-अभिसंधि

[बा० जयशंकर प्रसाद]

पात्र—

पुरगुप्त—कुमारगुप्त का छोटा पुत्र।

भटार्क—नवीन महाबलाधिकृत।

शर्वनाग—अंतर्वेद का विषयपति।

पृथ्वीसेन—मंत्री कुमारामात्य।

रामा—सर्वनाग की पत्नी।

महाप्रतिहार, महादंड नायक, सैनिक इत्यादि

[अंतःपुर का द्वार]

शर्वनाग—(टहलता हुआ)—कौन सी वस्तु देखो? किस सौंदर्य पर मन रीझा? कुछ नहीं, सदैव इसी सुंदरी खड्गलता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुंदर है, और भय से तो मेरा परिचय नहीं। परंतु हाँ, वह मेरी स्त्री जिसके अभावों का कोष कभी खाली नहीं, जिसकी भर्त्सनाओं का भंडार अक्षय है, उससे मेरी अंतरात्मा कंप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर से जान छूटी, परंतु रात बड़ी भयानक है। चलूँ अपने स्थान पर बैठूँ। सुनता

हूँ कि, परम भट्टारक की अवस्था अत्यंत शोचनीय है-
—जाने भगवान्।

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—कौन ?

शर्वनाग—नायक शर्वनाग।

भटार्क—कितने सैनिक हैं ?

शर्वनाग—पूरा एक गुल्म।

भटार्क—अंत:पुर से कोई आज्ञा मिली है ?

शर्वनाग—नहीं।

भटार्क—तुमको मेरे साथ चलना होगा।

शर्वनाग—मैं प्रस्तुत हूँ, कहाँ चलूँ ?

भटार्क—महादेवी के द्वार पर।

शर्वनाग—वहाँ मेरा क्या कर्तव्य होगा ?

भटार्क—कोई न तो भीतर जाने पावे और न भीतर का बाहर।

शर्वनाग—(चौंक कर)—इसका तात्पर्य ?

भटार्क—(गंभीरता से)—तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा पालन करना चाहिए।

शर्वनाग—तब भी क्या स्वयं महादेवी पर नियंत्रण रखना होगा।

भटार्क—हाँ।

शर्वनाग—ऐसा।

भटार्क—ऐसा ही।

(बादल की गरज, भीषण उल्कापात)

भटार्क—ओह, ठीक समय होगया ! अच्छा मैं अभी आता हूँ।

(द्वार खोल कर भटार्क भीतर जाता है)

(रामा का प्रवेश)

रामा—क्यों, तुम आज यहीं हो ?

शर्वनाग—मैं, मै, यहीं हूँ, तुम कैसे ?

रामा—मूर्ख ! महादेवी सम्राट को देखना चाहती हैं, परन्तु, उनके आने मे बाधा है। गोबर गणेश ! तू कुछ कह सकता है।

शर्वनाग—मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूछ उखाड़ सकता हूँ, परन्तु सिंहवाहिनी ! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।

रामा—(पैर पटक कर)—तुम कीड़े से भी अपदार्थ हो !

शर्वनाग—न न न न, ऐसा न कहो, मैं सब कुछ हूँ। परन्तु मुझे घबराओ मत। समझा कर कहो। मुझे क्या करना होगा !

रामा—महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा ? आज इस समूचे गुप्त साम्राज्य मे कोई ऐसा प्राणी नहीं, जो सम्राज्ञी की रक्षा करे। शत्रु अपने विषैले डंक और तीखे डाढ़ सँवार रहे हैं। पृथ्वी के नीचे कुमंत्रणाओं का क्षीण भूकंप चल रहा है।

शर्वनाग—यही तो मैं भी कभी कभी सोचता था। परन्तु

रामा—तुम जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर आओ मैं, मैं जाती हूँ।

(जाती है)

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—नायक ! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसनी करती हुई, डर से, यह आधीरात, खिसकती जा रही है ! पवन मे गति है पर शब्द नही। "सावधान" रहने का शब्द मैं कहता हूँ, परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पडता ! यह सब क्या है नायक !

शर्वनाग—तुम्हारी तलवार कहीं भूल तो नहीं गई है ?

सैनिक—म्यान हलकी लगती है, टटोलता हूँ—पर ।

शर्वनाग—तुम घबराओ मत तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सब को सचेत रखो हम इसी शिला पर हैं, कोई डरने की बात नहीं।

(सैनिक जाता है, फाटक खोल पुरगुप्त निकलता है, पीछे भटार्क और सैनिक)

पुरगुप्त—नायक शर्वनाग !

शर्वनाग—जय हो कुमार की ! क्या आज्ञा है ?

पुरगुप्त—तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो !

शर्वनाग—कुमार ! दास चिरअपराधी है—(सिर झुका लेता है)

भटार्क—इन्हे महादेवी के द्वार पर जाने की आज्ञा दीजिए यह विश्वस्त सैनिक वीर हैं।

पुरगुप्त—जाओ तुम महादेवी के द्वार पर; जैसा महाबलाधिकृत ने कहा है वैसा करना।

शर्वनाग—जैसी आज्ञा।

(अपने सैनिकों को साथ लेकर जाता है, दूसरा सैनिक और नायक वहाँ पहरा देने का परिक्रमण करते हैं)

महा०—कोई भी पूछे तो मत कहना कि सम्राट का निधन हो गया है। हाँ, बढ़ी हुई अस्वस्थता का समाचार बतलाना और सावधान, कोई भी—चाहे वह कुमारामात्य ही क्यों न हो—भीतर न आने पाये। तुम यही कहना कि परम भट्टारक अत्यंत विकल हैं, किसी से मिलना नहीं चाहते। समझा ?

नायक—अच्छा (दोनों जाते हैं, फाटक बंद होता है)

नायक—(सैनिकों से) आज बड़ी विकट अवस्था है, भाइयो ! सावधान ! (कुमारामात्य, पृथ्वीसेन, महादण्डनायक, और महाप्रतिहार का प्रवेश)

महाप्रतिहार—नायक, द्वार खोलो, हम लोग परम भट्टारक का दर्शन करेंगे।

नायक—प्रभु ! किसी को भीतर जाने की आज्ञा नहीं है।

महाप्रतिहार—(चौंक कर) आज्ञा ! किसकी आज्ञा ! अबोध ! तू नहीं जानता—सम्राट के अंतःपुर पर स्वयं सम्राट का भी उतना अधिकार नहीं जितना महाप्रतिहारी का, शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर।

नायक—दण्ड दीजिए प्रभु, परंतु द्वार नहीं खुल सकेगा।

महाप्रतिहार—तू क्या कह रहा है।

नायक—जैसी भीतर से आज्ञा मिली है।

कुमारामात्य—(पैर पटक कर)—ओह षड्यंत्र ! प्रतारणा !

दण्डनायक—विलम्ब असह्य है, नायक ! द्वार से हट जाओ ।

महाप्रतिहार—मैं आज्ञा देता हूँ कि, तुम अंत पुर से हट जाओ युवक ! नहीं तो मैं तुम्हें पदच्युत करूँगा ।

नायक—यथार्थ है । परंतु मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहाँ हूँ, और मैं उन्हीं का अधीन सैनिक हूँ । महाप्रतिहार के अंत-पुर रक्षकों में मैं नहीं हूँ ।

महाप्रतिहार—क्या अंत पुर पर भी सैनिक नियंत्रण है ! पृथ्वीसेन !

पृथ्वीसेन—इसका परिणाम भयानक है ! अंतिम शय्या पर लेटे हुए सम्राट की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा ।

महाप्रतिहार—(कुछ देखकर)—हा शर्वनाग कहाँ गया ?

नायक—उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है ।

महाप्रतिहार—(पैर पटक कर) मूर्ख शर्वनाग !

(अंत पुर से क्षीण क्रंदन)

महादण्डनायक—(कान लगाकर सुनते हुए)—क्या, सब शेष हो गया । हम अवश्य भीतर जायँगे । (तीनों तलवार खींच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश)

पृथ्वीसेन—भटार्क यह सब क्या है ?

भटार्क—(तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ)—परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार ! साम्राज्य के नियमानुसार

शस्त्र अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन कीजिए।

(तीनों एक दूसरे का मुंह देखते हैं)

महाप्रतिहार—तब क्या सम्राट कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार में नहीं हैं।

भटार्क—नहीं।

पृथ्वीसेन—परंतु उत्तराधिकारी युवराज स्कंदगुप्त ?

पुरगुप्त—चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट कर गये हैं।

पृथ्वीसेन—परंतु प्रमाण ?

पुरगुप्त—क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन—अवश्य।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत! इन विद्रोहियों को बंदी करो।

(भटार्क आगे बढ़ता है)

पृथ्वीसेन—ठहरो भटार्क तुम्हारी विजय हुई, परंतु एक बात।

पुरगुप्त—आधी बात नहीं, बंदी करो।

पृथ्वीसेन—कुमार! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों में गुप्त साम्राज्य का राजदंड टिकेगा नहीं। इसलिए कुमार! इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त—क्यों विलंब कर रहे हो ?

भटार्क—आप लोग शस्त्र रखकर आज्ञा मानिए।

महाप्रतिहार—आततायी! यह स्वर्गीय आर्य्य चंद्रगुप्त का दिया

हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नही रक्खा जा सकता। उठा अपना शस्त्र, बचा अपने को।

पृथ्वीसेन—महाप्रतिहार! सावधान! क्या करते हो! यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड रही हैं, यह समय बल नाश करने का नही है। आओ हम लोग गुप्त साम्राज्य के विधान के अनुसार चरम प्रतिकार करें। परतु भटार्क! जिसे तुम खेल समझ कर हाथ मे ले रहे हो, उस काल भुजगी राष्ट्रनीति की—प्राण देकर भी—रक्षा करना, एक नही सौ स्कन्दगुप्त उसपर न्यौछावर हैं। आर्य्य साम्राज्य की जै हो।

(छुरा मारकर गिरता हे, महाप्रतिहार और दंडनायक भी वैसा करते हें)

पुरगुप्त—पाखड स्वय विदा हो गए—अच्छा ही हुआ!

भटार्क—परतु भूल हुई ऐसे स्वामिभक्त सेवक!

पुरगुप्त—कुछ नहीं। (भीतर जाता है)

भटार्क—जाय, सब जाय, गुप्त साम्राज्य, हीरों के-से उज्ज्वल हृदय वीर-युवको का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा-राक्षसी के लिए बलि हों!

(भटार्क भीतर जाता हे)

(पट परिवर्तन)

उपन्यास

[बा० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]

साहित्य के दो भेद किये जा सकते हैं, एक काव्य और दूसरा विज्ञान। काव्य में कल्पना का साम्राज्य है और विज्ञान मे तर्क का। काव्य कभी भी तर्क का सामना नहीं कर सकता। उपन्यास और नाटक काव्य के अतर्गत हैं और इतिहास विज्ञान मे सम्मिलित किया जा सकता है। काव्य का कार्यक्षेत्र अतर्जगत् है और विज्ञान का उपादान वहिर्जगत् है। हम लोग प्राय वहिर्जगत् की ओर ध्यान देते हैं। अधिकाश लोगों के लिए प्राय सत्य का रूप बाह्य जगत् में ही परिमित होता है। अतर्जगत् की घटनाओं में वे सहसा सत्य का स्वरूप नहीं देख सकते। पत्थर के लगने से फल का गिरना सत्य है। उसको सभी मान लेंगे। परतु किसी अलक्षित कारण विशेष से मनुष्य के अध पतन में सत्य का दर्शन कर लेना सभी के लिए साध्य नहीं है। वैज्ञानिकों के आविष्कारों की सत्यता मे किसी को सदेह नहीं हो सकता। परतु जब कवि अपनी कल्पना द्वारा अतर्जगत् का गूढ रहस्य समझाने लगता है तब कुछ लोग सदिग्ध-चित्त हो सकते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो कल्पना को सत्य का विरोध समझते हैं।

यह तो सभी को स्वीकार करना पडेगा कि कल्पना निराधार नहीं हो सकती। उसका आश्रय सत्य ही होना चाहिए। जिसका अस्तित्व नहीं, उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है। हम कल्पना द्वारा देख सकते हैं कि मनुष्य आकाश में उडता है।

सभी भाषाओ मे ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते हैं। ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते हैं, कल्पित नहीं। अब प्रश्न यह है कि ऐसे ग्रथो के लेखक अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इतिहास का अनुसरण करते हैं या नहीं। क्या उन्हें अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का किसी अन्य रूप में प्रदर्शित कर सकें। कुछ समय पहले बगाल के प्रसिद्ध चित्रकार ने लक्ष्मणसेन का पलायन नाम का एक चित्र बनाया था। कितने ही ऐतिहासिको का कहना था कि ऐसी घटना हुई नहीं। तब उसका चित्र क्यो बनाया गया ? इससे मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। बकिम बाबू के कुछ उपन्यासों मे इतिहास-विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। द्विजेंद्रलाल राय के नाटको मे महाबत खाँ प्रताप-सिंह के भाई माने गये हैं। हिंदी में एक बार इला नाम का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वह एक बगला-उपन्यास का अनुवाद था। इतिहास-विरुद्ध होने के कारण शायद उस पर कुछ विवाद भी हुआ था और कदाचित् उस पुस्तक का प्रचार भी रोक दिया गया। बात यही थी कि वह अँगरेजी के एक प्रसिद्ध लेखक शेरीडन के एक नाटक का अनुवाद-मात्र था। बगाल के

अनुवादक महोदय ने उसके पात्रों के नाम बदल कर ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम कर दिये। फल यह हुआ कि उसमें उदयपुर के महाराणा उदयसिंह आ गये और हेमू के साथ उनका घोरयुद्ध हुआ। अब यह पूछा जा सकता है कि इन लेखकों ने इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी क्यों ?

उपन्यास-लेखक का पहला कर्तव्य यह है वह अपनी कथा को सजीव बनावे। कथा की सजीवता का मतलब यही है कि पाठक अपनी कल्पना द्वारा उन पात्रों को प्रत्यक्ष देख ले। कथा में मानव-चरित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और वही मुख्य भी है। परंतु उसके प्रभाव को बढाने के लिए उपन्यासकार ऐसे व्यक्तियों का नामोल्लेख कभी कभी कर देते हैं जिनसे पाठकों का चित्त कथा की ओर अधिक आकृष्ट हो जाता है। इतिहास भी कथा के प्रभाव को बढाने के लिए उपयुक्त होता है। द्विजेंद्रलाल राय ने महावत खाँ को प्रतापसिंह का भाई बना दिया है। इससे उनके मेवाड पतन के कथा-भाग का प्रभाव खूब बढ गया है, कथा सजीव हो गई है। हमें ऐसे स्थानों में स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक होते हुए भी ये पात्र कवि की सृष्टि ही हैं। अतएव हमें कथा-भाग पर ख्याल रखकर उनके चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। यदि कवि को उसमें असफलता हुई है तो हम उसकी आलोचना कर सकते हैं। अँगरेजी के एक समालोचक ने यह निर्णय किया है कि कवि, नाटककार अथवा चित्रकार को यह अधिकार है कि वे परिमित

रूप में इतिहास के विरुद्ध भी अपनी कथा की सृष्टि कर सकते हैं। परंतु एक दम ऐसी झूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथा का प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवींद्र बाबू ने एक स्थान में लिखा है कि विधि-प्रणीत इतिहास और मनुष्य-चरित्र कहानी, इन्हीं दोनो के मेल से तो मनुष्य का ससार बना है। मनुष्य के लिए सिर्फ अशोक और अकबर ही सत्य नहीं है। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसधान में सात समुद्र को पार कर चला गया था वह भी सत्य है। हनूमान् ने गधमादन पहाड़ को उखाड लिया था, यह भी उनके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रामाणिक है और कौन कम प्रामाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नहीं है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की दृष्टि से कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास मे पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है। परतु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न भिन्न उपन्यासों में भिन्न भिन्न रूपों में देखते हैं। यह सभव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो, पर दोनो एक कभी नहीं हुए हैं। इसीलिए एक विद्वान् ने कहा है। मतलब यह कि श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासो से भी इतिहास का काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परतु वे ऐतिहासिक घटनायें नहीं हैं। सच

तो यह है कि उपन्यासो मे वाह्य ससार की घटनाये दृग्गोचर अवश्य होती है, परतु वे स्वय महत्त्व पूर्ण नहीं है। औपन्यासिक पात्रों को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पडता है। परतु ज्यों ही उनकी जीवन-लीला आरभ होती है त्योही हमारा ध्यान देश और काल से हट कर उन पात्रो पर केंद्रीभूत हो जाता है। लेखक का कला-नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जव हम उसकी कृति में उन पात्रों का जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्णं से पूर्ण लवे लवे परिच्छेदो से जो बात नहीं व्यक्त हो सकती वह उन दो चार वाक्यों से प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रों के मुह से निकलते है।

इसमें सदेह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरञ्जन है। परतु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों ही की जरूरत हो, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हे ऐसी ही वातें पसद आती हैं जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकाश लोगो को ऐसी वातो से मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती हैं। उपन्यासो मे जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती है वे केवल समाज के अधकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं। यह ठीक नहीं है। ससार में अनाचार ही का राज्य नहीं है, वह इतना उच्छृङ्खल नहीं हो गया है कि उसने धर्म को तिलाञ्जलि दे दी हो। इसी प्रकार जो लोग आदर्श चरित्रों की सृष्टि करना चाहते हैं वे अपने ही आदर्श को सर्वोत्तम समझ कर जगत् का धर्म-गुरु वनने का दावा करते हैं।

रूप में इतिहास के विरुद्ध भी अपनी कथा की सृष्टि कर सकते हैं। परतु एक दम ऐसी मूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथा का प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवींद्र बाबू ने एक स्थान में लिखा है कि विधि-प्रणीत इतिहास और मनुष्य-चरित कहानी, इन्हीं दोनो के मेल से तो मनुष्य का ससार बना है। मनुष्य के लिए सिर्फ अशोक और अकबर ही सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसधान में सात समुद्र को पार कर चला गया था वह भी सत्य है। हनूमान् ने गधमादन पहाड़ को उखाड़ लिया था, यह भी उनके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रामाणिक है और कौन कम प्रामाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नहीं है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की दृष्टि से कौन सचा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास मे पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है। परतु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज है। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न भिन्न उपन्यासों में भिन्न भिन्न रूपो मे देखते हैं। यह सभव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो, पर दोनो एक कभी नहीं हुए हैं। इसीलिए एक विद्वान् ने कहा है। मतलब यह कि श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासो से भी इतिहास का काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओ का अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परतु वे ऐतिहासिक घटनायें नहीं हैं।- सच

तो यह है कि उपन्यासो मे वाह्य ससार की घटनाये दृग्गोचर अवश्य होती हैं, परंतु वे स्वय महत्त्व पूर्ण नहीं है। औपन्यासिक पात्रों को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। परंतु ज्यो ही उनकी जीवन-लीला आरभ होती है त्योंही हमारा ध्यान देश और काल से हट कर उन पात्रो पर केंद्रीभूत हो जाता है। लेखक का कला-नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जब हम उसकी कृति में उन पात्रों का जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्ण से पूर्ण लवे लवे परिच्छेदो से जो बात नहीं व्यक्त हो सकती वह उन दो चार वाक्यों से प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रों के मुह से निकलते हैं।

इसमे सदेह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरञ्जन है। परंतु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों ही की जरूरत हो, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हे ऐसी ही बातें पसद आती हैं जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकाश लोगों को ऐसी बातो से मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती हैं। उपन्यासों में जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती है वे केवल समाज के अधकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं। यह ठीक नहीं है। ससार में अनाचार ही का राज्य नहीं है, वह इतना उच्छृङ्खल नहीं हो गया है कि उसने धर्म को तिलाञ्जलि दे दी हो। इसी प्रकार जो लोग आदर्श चरित्रों की सृष्टि करना चाहते हैं वे अपने ही आदर्श को सर्वोत्तम समझ कर जगत् का धर्म-गुरु बनने का दावा करते हैं।

वे धर्म शास्त्र के आचार्य बन कर समाज का पथ निर्दिष्ट कर देना चाहते हैं।

आज कल भारतवर्ष के अधिकाश औपन्यासिक अपने उपन्यासों में समाज-सुधार का उपाय बतलाते हैं। जो विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं वे अपने ग्रन्थ में विधवा-विवाह की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। जो उसके विरोधी हैं वे उसका खण्डन कर पातिव्रत का माहात्म्य बतलाते हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रेमी लकीर के फकीरों की दिल्लगी उड़ाते हैं और प्राचोनता के पक्षपाती नवीन सभ्यता की बुराई प्रदर्शित करते है। स्त्री-शिक्षा के प्रेमी सास-ननदो के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और प्राचीनता के अनुगामी सुशिक्षिता बहू का भ्रष्ट चित्र खींचते हैं। कहानियों में स्थानाभाव से समाज-सुधार को इतनी चर्चा नहीं रहती, तो भी लेखक अपने आदर्श को इतना ऊँचा रखते हैं कि पाठको का ध्यान उधर अवश्य आकृष्ट हो। लेखक अपने आदर्श को दूसरों पर क्यों लादना चाहते है ? वे पाठकों को इतना अवकाश क्यों नहीं देते कि पाठक स्वय उनके पात्रों की परीक्षा करें ? कोई कहानियो को धर्मशास्त्र समझ कर तो पढता नहीं। यदि किसी को 'कु' और 'सु' का निर्णय करना हो अथवा समाज-शास्त्र की बात जाननी हों तो वह कहानी पढने क्यो बैठेगा। धर्म शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढने क्यों बैठेगा, धर्म-शास्त्र का अध्ययन न करेगा ? लेखक समाज की दुर्बलता पर आघात अवश्य करे। पर उसे अपने पात्रो के व्यक्तित्व-विकास पर ज़ोर देना चाहिए। मतलब यह कि

मनुष्यों के अनुसार समाज की रचना होनी चाहिए। किसी कल्पित समाज के अनुसार मनुष्यों की सृष्टि नहीं होनी चाहिए।

उपन्यासों में सत्य का प्राय बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनाएँ कल्पित अवश्य होती हैं। परतु ये प्राकृतिक नियमों का व्यतिक्रमण नही कर जातीं। हिंदी के सामाजिक उपन्यासों में मनुष्य के मनुष्यत्व का विकास प्रदर्शित नहीं किया जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छा के अनुकूल ही अपने पात्रों को कठपुतलियों के समान नचाया करते हैं और वे अपने पाठकों से यही आशा रखते हैं कि पाठक चुपचाप उनके पात्रों का नृत्य-कौशल देखा करे। इससे उपन्यास मे मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। हिंदी के उपन्यासों के पात्र सह्य और असह्य सभी प्रकार के कष्ट सह सकते हैं। ससार मे सज्जनों पर विधाता की सदैव अनुकूल दृष्टि नही रहती। पर इन पात्रों के भाग्यविधाता उनकी स्थिति को अनुकूल ही कर देते हैं। यदि कोई उपन्यास दु खान्त हुआ है तो उसका कारण स्थिति की प्रतिकूलता नही। किंतु पात्रो का दुर्भाग्य समझना चाहिए। स्वर्गीय बाबू देवकीनदन के समान कितने ही लोग अपने ही उपन्यास को सुखान्त और दु खान्त दोनों कर डालते हैं। आप का कहना भी था कि जो दु खान्त के प्रेमी हैं वे ग्रन्थ के अतिम दो पृष्ठ फाड डालें, सुखात दु खात हो जायगा। विधाता के विधान का फैसला दो ही पृष्ठों पर कर दिया गया। हिंदू-मात्र पूर्व जन्म पर विश्वास करते हैं। उनका ख्याल है कि

विधाता निरंकुश नहीं है। मनुष्य अपने ही कृत्यों का फल भोगता है। पर हिंदी के उपन्यासकार इसके कायल नहीं। एक ही कृत्य के लिए ये चाहे तो किसी को स्वर्ग दे सकते हैं या नरक में ढकेल सकते हैं। मानव-स्वभाव की गरिमा का जरा भी ख्याल न रख किसी के चरित्र को कालुष्य-पूर्ण बता कर उस पर पूरा अत्याचार किया जाता है। चरित्र का उत्थान और पतन बिलकुल साधारण बात है। यही हिंदी के उपन्यासों का मिथ्या अंश है।

सभी देशों के साहित्य में जातीय गौरव की रक्षा की जाती है। सभी मनुष्यों को अपनी जाति का अभिमान होता है। यही कारण है कि अपने जाति गौरव की रक्षा के लिए, समय आने पर साधारण मनुष्य भी आत्म-त्याग कर सकता है। कभी कभी लोग जातीय अभिमान से प्रेरित होकर प्राण तक देना स्वीकार करते हैं पर वे अपनी जाति को किसी प्रकार अपमानित होते नहीं देख सकते। अँगरेजी के एक कवि ने एक छोटी सी कहानी लिखी है। उसमें एक अँगरेजी सैनिक का जातीय अभिमान प्रदर्शित हुआ है। उस कहानी के विषय में कहा गया है कि वह एक सच्ची घटना के आधार पर लिखी गई है। कहानी का सारांश यह है कि एक बार चीन में एक अङ्गरेज तीन सिक्खों के साथ कहीं गुल-गपाडा करता हुआ पकडा गया। जब वे चारों किसी चीनी अफसर के सामने लाये गये तब उस अफसर ने कहा—तुम लोग मुझे झुक कर सलाम करो, नहीं तो मार डाले

जाओगे। तीनों सिक्खों ने सलाम कर अपनी प्राण रक्षा की। पर उस अंगरेज ने स्वीकार नहीं किया। अन्त मे वह मार डाला गया। इसी घटना को लेकर अँगरेज कवि ने अगरेजों के जातीय अभिमान की प्रशंसा की है और काले सिक्खों की कायरता की ओर इशारा किया है। सिक्ख जाति के इतिहास मे ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं है जिनमें सिक्खों ने सहर्ष प्राण त्याग दिये हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि सिक्ख-जाति प्राण देना नहीं जानती। पर जिनका हृदय क्षुद्र होता है वे जातीय अभिमान के कारण दूसरों में गुण देख ही नहीं सकते। ऐसे लोगों की रचनाओं मे विदेशी जातिओं का घृणास्पद चित्र अंकित रहता है। साहित्य में धार्मिक असहिष्णुता की भी अभिव्यक्ति होती है। शेक्सपियर के समान श्रेष्ठकवि भी इस दोष से बचे नहीं हैं। शायलाक को उन्होंने इतना लोभी बनाया है कि वह अपनी एकमात्र कन्या का मृत शरीर देखना चाहता था जिससे वह अपना रुपया पा सके। सर वाल्टर स्काट ने अपने आइवनहो नामक उपन्यास में भी एक यहूदी का ऐसा ही चित्र अङ्कित किया है। यद्यपि उसमे धन लिप्सा अत्यधिक थी तो भी वह पितृ-स्नेह शून्य नही था। अँगरेजी साहित्य में भारतीयों के प्रति घृणा व्यञ्जक भाव विद्यमान है। आधुनिक हिंदी-साहित्य में भी विदेशियों के प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है। यहाँ हम उसी की ओर आप का ध्यान आकृष्ट करना चाहते है।

हिंदी के उपन्यासो मे अकबर को चरित्र-हीनता की कथाए मिलती हैं। इसका सब से बडा कारण टाड साहब का राजस्थान का इतिहास है। परतु सिर्फ अकबर ही चरित्र हीन दर्शित नही किये गये हैं। औरङ्गजेब भी कामुक और विलासी बनाये गये हैं। जिस प्रकार क्रोध के लिए दुर्वासा ऋषि प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अपनी क्रूरता के लिए औरङ्गजेब। ये तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कुछ समय पहले जो सामाजिक उपन्यास निकले हैं उसमें शायद ही कोई सचरित्र मुसलमान हो। हिंदू-ललनाओं की सतीत्व-रक्षा के लिए हिंदी लेखक जितने सावधान थे उतने सावधान मुसलमान स्त्रियों के विषय में नहीं थे। आज कल जो छोटी छोटी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनमें अवश्य सचरित्र मुसलमानों का अभाव नही है। परतु हिंदी में कदाचित् अभी तक एक भी ऐसा उपन्यास प्रकाशित नही हुआ जिसमें किसी अँगरेज का आदर्श चरित्र दिखलाया गया हो। यदि कभी किसी लेखक की इच्छा किसी अँगरेजी पढे लिखे भारतीय को चरित्र भ्रष्ट करने की हुई तो वह एक अँगरेजी महिला को कल्पना कर लेता है। धार्मिक विद्वेष के उदाहरण हिंदी साहित्य में कम नहीं है। इसके सिवा अशिक्षा अथवा कुशिक्षा के परिणाम भी बुरी तरह से दिखाये जाते हैं। ये सभी उपन्यास शिक्षा-दायक कहे जाते हैं और इनके प्रशंसकों का भी अभाव नहीं है। इनमें

से कोई अपनी प्रशंसा में देश और काल की दुहाई देते हैं। परन्तु सच पूछो तो इन रचनाओं से लेखकों की विकार-ग्रस्त कल्पना का आभास मिलता है? इनसे शिक्षा तो मिलती नहीं, मिथ्या ज्ञान का प्रचार होता है। इसमें केवल द्वेष भाव की वृद्धि होती है। उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक, पौराणिक हो अथवा राजनैतिक, उनमें कल्पना की प्रधानता रहती है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लेखक की कल्पना में अपना यथार्थ स्वरूप नहीं रख सकते हैं। अतएव यदि उनके चरित्र-चित्रण में वही दोष है तो वह लेखक की कल्पना का दोष है। यदि लेखक को अपने उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान है तो वह अपने उपन्यास के प्रत्येक पात्र के जीवन की समीक्षा करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसके पात्र मनुष्य हैं। वे न तो देवता हैं और न पिशाच। यदि उनका चरित्र देव-तुल्य अथवा पिशाच तुल्य है तो उसे बतलाना होगा कि वह किस स्थिति को अतिक्रमण कर उस अवस्था को पहुँचा है।

आज कल के उपन्यासों का क्षेत्र खूब व्यापक हो गया है। सभी तरह की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। उनमें कुछ अच्छी होती हैं तो अधिकांश बुरी होती हैं। परन्तु बुरे होने से उपन्यासों का प्रचार कम नहीं होता। देखा गया है अधिकांश पाठकों का मनोविनोद श्रेष्ठ साहित्य से नहीं होता। कभी कभी चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली अनाचार से पूर्ण किताबों की खूब

स्पष्ट होती है। अँगरेजी साहित्य मे आज-कल वर्नार्डशा का बड़ा नाम है। नाटक-रचना मे आप बड़े पटु समझे जाते हैं। आपने अच्छी और बुरी पुस्तको के संबंध मे अपने विचार प्रकट किये हैं। आप के विचारों मे मौलिकता है, अतएव उनका मर्म नीचे दिया जाता है। हम लोग उपन्यासो मे भयानक हत्या-काण्डों का वर्णन पढ़ते हैं। उनमे हम भयानक हत्यारो को भीषण लीलाएँ देखते हैं। परंतु उससे हम स्वयं घातक नही हो जाते। यही नहीं, किंतु हमारी जिज्ञासा की प्रवृत्ति एक कल्पित राज्य में जाकर आप से आप नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार हम काव्यों मे श्रेष्ठ नर-नारियो का चरित्र पढ़ते हैं, उनके सद्गुणो का परिचय पाते हैं। पर वे सद्गुण भी कल्पना के ही क्षेत्र मे अवरुद्ध हो जाते हैं। हमारी सत्प्रवृत्तियाँ उत्तेजित तो अवश्य होती हैं पर वे कल्पित राज्य मे ही विलीन हो जाती हैं। अब विचारणीय यह है कि वाचनालयों में कैसी किताबें रक्खी जायँ। हमारी समझ मे तो वहाँ ऐसी ही किताबे रक्खी जायँ जिनमे दुराचारियो का वर्णन रहे। जासूसी उपन्यासों मे चोरों और बदमाशों का खूब हाल रहता है। अतएव पुस्तकालयो मे उन्ही की भरमार रहनी चाहिए। ऐसी किताबों को पढ़ते पढ़ते जब पाठको को अनाचार से विरक्ति हो जायगी जब वे स्वयं आकर कहेंगे—भाई, अब कोई ऐसी किताब दो जिसमे आदर्श चरित्र अंकित किया गया हो। किसी साधु पुरुष अथवा महात्मा का जीवन-चरित हो। तब पुस्तकालय के अध्यक्ष को उत्तर देना

चाहिए—सद्गुणो के निदर्शन के लिए ससार ही प्रधान-कार्य क्षेत्र है। आप स्वय जाकर अच्छे अच्छे काम कीजिए। यदि कभी आप में दुष्प्रवृत्तियाँ जागृत हों तो आकर किताबे पढिए। मैं आप को फिर ऐसी किताबे दूँगा जिनसे आप की दुष्प्रवृत्ति खूब उत्तेजित होगी और अत मे आपसे आप नष्ट हो जायगी।

हिंदी में साधारणत जो उपन्यास प्रकाशित होते हैं उनमे विपय की महत्ता पर विशेप ध्यान दिया गया है। विपय महत्त्व-पूर्ण होने से ग्रथ भी महत्त्व-पूर्ण हो, यह कोई बात नहीं है। परतु इसमे सदेह नहीं कि इससे लेखकों की महत्त्वाकाक्षा सूचित होती है। हिंदी के उपन्यासों, नाटकों और आख्यायिकाओं तक का विपय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसमें एक बार निपुण ग्रथकारों की बुद्धि भी चकर खा जाय। आदर्श ऊँचा रखना बुरा नहीं, परतु उस आदर्श को मनुष्य-जीवन में दिखलाने के लिए अनुभूति चाहिए। जिसने अभी भारतीय राजनीति के साधारण तत्त्वों को समझा नहीं है वह यदि कल्पना के बल से उपन्यास मे राजनैतिक जीवन का रहस्योद्घाटन करना चाहे तो इसे उसका साहस कहना चाहिए। यही हाल सामयिक तथा धार्मिक समस्याओं का भी है। किसी विधवा को आजन्म ब्रह्मचारिणी अकित कर देने से भारतीय समाज की दुर्दशा दूर नहीं हो जाती और न शिक्षित रमणी का विकृत चित्र खींच देने से स्त्रियों की समस्या हल हो जाती है। ससार मे कर्मयोग का जीवित चित्र खींच देना साधारण काम नहीं है। बुद्धदेव

अथवा प्रताप को नायक बना देने से ही नाटक या उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता। एक साधारण मनुष्य के जीवन में जो हलचल होती रहती है पहले उसी का तो चित्र खींचा जाय, फिर किसी उच्च जीवन का विकास दिखलाया जाय। जो लोग बुद्धदेव के जीवन का रहस्य बतलाना चाहते हैं वे पहले अपने जीवन की परीक्षा कर ले। जब तक वे अपने जीवन में बुद्धदेव की महत्ता का अनुभव नहीं कर लेंगे तब तक वे केवल कल्पना के सहारे बुद्धदेव के पास नहीं पहुँच सकते। रामचरितमानस लिखने के लिए गोस्वामीजी की जरूरत होती है। रामचरितमानस गोस्वामी जी की कल्पना का फल नहीं है। वह उनकी साधना का, अनुभूति का, फल है। हिंदी के नये ग्रंथो में दो चार को छोड कर सभी में इसी अनुभूति का अभाव है। कुछ लोग असाधारणता को ही उत्तमता समझते हैं। इसी के फेर मे पडकर लोग मनुष्य को न देखकर उनका स्वाँग देख रहे हैं।

उपन्यास मे भी भावुकता और राष्ट्रीयता की ऐसी लहर आई है कि जिसे देखो वही अपने दिल का फफोला फोड रहा है। सीधी, सच्ची बात को लोग उपन्यास का विषय नहीं समझते मानो विकार-ग्रस्त मनुष्य के प्रलाप में ही कला का चमत्कार है।

साहित्य का उद्देश ज्ञान का प्रचार करना है, कम से कम सत्-साहित्य का यही उद्देश है। साहित्य से मनुष्य का जो मनोरंजन होता है उसका कारण है उसकी स्वाभाविक ज्ञान-लिप्सा। यदि उसमे ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा बलवती न होती तो

साहित्य के किसी भी अग से उसकी मनस्तुष्टि न होती। मनुष्य मनुष्य-समाज को जानना चाहता है। इसी से इतिहास, नृतत्व-शास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति-विज्ञान आदि शास्त्रों की सृष्टि होती है। वह मनुष्य के अतस्तल मे प्रवेश करके उसके अतर्निहित भावो को जानना चाहता है। इसी से काव्य का निर्माण होता है। वह प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करना चाहता है। इसी से विज्ञान की रचना होती है। जब वह बाह्य प्रकृति के साथ अपना सबध ढूँढने लगता है, तब समाज-शास्त्र की आवश्यकता होती है। मतलब यह कि समस्त साहित्य के मूल में ज्ञान है। साहित्य के जिस अ श से हम ज्ञान का जितना ही अधिक अश स्वायत्त कर लेते हैं वह हमारे लिए उतना ही अधिक उपादेय है। ज्ञान की प्राप्ति में ही साहित्य की उपादेयता है।

कथा, उपन्यास और आख्यायिका, ये काव्य के अ तर्गत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि इनका उद्देश केवल मनोरजन है। इसमें सदेह नहीं कि उपन्यासो से जितने अधिक लोगों का मनोरजन होता है उतना अन्य किसी शास्त्र से नहीं होता। परतु इससे इनका महत्त्व घटता नहीं है। उपन्यास अथवा कथाओ से मनुष्य का मनोरजन इसीलिए होता है, क्योंकि उनसे वह अपना मनुष्यत्व पहचान लेता है। इतिहास राष्ट्र से हमें परिचित कराता है और उपन्यास व्यक्ति से। यही दोनों में भेद है। राष्ट्र अथवा समाज का ज्ञान हमारे लिए जितना हितकर है उस

से कम व्यक्ति का ज्ञान नही है। एक मे हम राष्ट्र का उत्थान-पतन देखते हैं और दूसरे मे व्यक्ति का। जिस कथा से हमें मनुष्यत्व का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतनाही अच्छा समझा जाता है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्य में उपन्यासो की क्या मर्यादा है। यह तो स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य ही मानवीय स्वभाव की ज्ञान-प्राप्ति है। परतु क्या यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की सीमा यहीं तक है, इससे अधिक हम नही जा सकते ? उदाहरण के लिए, क्या कथाओ के विषय मे यह कहा जा सकता है कि उनमें हमे श्रेष्ठ पुरुषों के ही जीवन की महत्ता देखनी चाहिए। क्षुद्रो की क्षुद्रता देखने से लाभ क्या ? प्राचीन काल की कथाओ मे राजा और रानो की ही कहानियाँ वर्णित हुई हैं। रामायण, महाभारत, रघुवश आदि सभी काव्यो के नायक महापुरुष हैं। चरित्र-हीन, नीच, दुष्ट जनो को अपनी कृति द्वारा अक्षय करने की चेष्टा किसी ने नही की है। तो क्या ऐसे मनुष्यों का जीवन अवर्णनीय है। निवेदन है कि आँख मूद लेने से हमारे लिए कोई नही रह जाता। परन्तु ससार उठ नहीं जाता। वह जहा का तहा बना रहता है। इसी लिए जो आँख मूँद कर चलने की चेष्टा करते हैं वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीति की दृष्टि से तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनों से परिचित हो जाय। परतु सबसे बडी बात यह है कि हमें मनुष्य-स्वभाव का पूरा ज्ञान होना चाहिए।

एक चरित्रहीन के जीवन मे मनुष्यत्व का जो विकास हुआ है वह हमारे लिए उपेक्षणीय नहीं है। ऐसे ग्रथों के पाठ से चित्त कलुपित नहीं होता। यथार्थ ज्ञान से सहानुभूति उत्पन्न होती है। जिन लेखकों में यह शक्ति नहीं है कि वे मनुष्य के अतस्तल तक पहुँच सकें उन्ही की रचनाओं में मनुष्यत्व का विकृत रूप प्रदर्शित होता है, जिससे चित्त विकृत होता है। मनुष्य के लिए अध पतन अस्वाभाविक नहीं है। परतु इस पतनावस्था मे जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उन्ही मे यह शक्ति भी रहती है कि वे मनुष्य को उच्चतम अवस्था मे ले आवें। अतएव उनका ज्ञान हमारे लिए अनिष्टकर नहीं है।

आँख पर हिंदी-कवि

[श्रीवियोगी हरि]

भला, देखिये तो, बूढ़े ब्रह्मा से कितनी भारी भूल हुई है ? आँख को धर गिनाया है इंद्रियों में ! यदि रूखे-सूखे वेदान्ती इंद्रियों की भरपेट निंदा न कर डालते, तो आँख को भी इंद्रियों का सजातीय मानने में हमारी आँख नीची न पड़ती। क्या नेत्रानंद इंद्रिय-परायणता की कोटि में आ सकता है ? कदापि नहीं। इंद्रियाँ भली हों या बुरी, यह सब जानें वेदान्ती। हमें तो अपनी आँख इंद्रियों से परे माननी है। रसना के रसों में वह रस कहाँ, जो 'अमी-हलाहल-मदभरे, सेत, स्याम रतनार' में है। कान बेचारे यही मनाया करते हैं कि उन नुकीली आँखों को पैनी अनी किसी-न-किसी तरह हमारे हृदय में-चुभा करे। नाक का तो कुछ कहना ही नहीं। यह भी मान लिया जाय कि 'नाक' स्वर्ग को कहते हैं, तब भी क्या हुआ, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।' पुण्यक्षय होने पर नाक से मर्त्यलोक और मर्त्यलोक से नरक वा स्वर्ग-प्राप्ति की परम्परा अबाधित है। नाकसे ऊपर आँख ही है। आँखमें समाया कि फिर लौटने का

नहीं। एकदम मुक्त। त्वचा का भी इसी प्रकार बचा-खुचा अनुभव ज्ञान समझना चाहिये। बिना आँखवाले ही इधर-उधर टटोलते फिरते हैं। अब आयीं आँख महारानी। दासी इंद्रियाँ इनकी टहल किया करती हैं। मन महीप की पट्टरानी यही है। अनुराग का यहाँ सदा सुहाग भरा-पुरा रहता है। लाज का लहँगा और शील की साडी करुणा की कचुकी के साथ ऐसी दिप रही है कि जैसी कुछ चाहिए। कल्पना की कुञ्ज में आप क्रीडा किया करती है। मान की मीठी मिठाई चख कर अपना 'चख' नाम सार्थक करती हैं। रसनिधि ने 'चख' नामक सूत्र पर कैसा भव्य भाष्य किया है—

> और स्मन लैं जानही रसना हूँ अभिराम।
> चाखति जो ये रूप-रस यातैं ह चख नाम॥

अन्य रसो का आस्वादन करना तो रसना भी जानती है, पर रूप-रस केवल आँखें ही चखती हैं। इसीमे इनका नाम 'चख' रखा गया है। सौंदर्य-सिंहासन पर आसीन हो ऐसा शासन करती हैं कि बडे-बड़े वीर और महारथी भी हथकडियों से बँधे हुए सामने हाजिर हो जाते हैं। धन्य! आँख महारानी! धन्य!!

आँख की महिमा किसने समझी? ज्ञानियों ने? नहीं, उनकी आँखे तो ज्ञानचक्षु हैं। खरिया, खरी कपूर एव श्वान, गाय, भैंस, गधे, सब उनको बराबर हैं। गीता मे लिखा है—

विद्या विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिता समदर्शिन ॥

फिर पदार्थ-विज्ञानियों ने ? उनकी आँख तो परख में ही पडी चक्कर लगाया करती है। चमत्कारों में चकृत रहती है। तब योगियों ने ? खूब सोचा! त्राटक के फाटक तक तो इनकी आँख की पहुँच ही है। या ज्यादातर क़ैदी की तरह बंद रहती है। कहते हैं, हमें समाधि मे ज्योति के दर्शन होते हैं। राम जाने, क्या होता है! न सही, विद्वान् तो अवश्य ही नेत्रानंद-रस के अधिकारी होंगे। स्वप्न में भी नहीं, पोथी-पत्रे उलटते-पुलटते पूरे काठ के उल्लू बन जाते हैं। बिना कहीं लिखी हुई बात मानते ही नहीं! आँख की कद्र पठित मूर्ख क्या जाने? और विद्यार्थी ? नाम न लीजिये, यदि ये रट्टू टट्टू न होते तो आँख की खुदाई नूर को खराब करनेवाले चश्मे इतनी कसरत से बाज़ार मे न दिखायी देते। ये सब आँख के पारखी नहीं। इन लोगो के पास वह आँख नहीं, वह चितवन नहीं, जिसमे कुछ पानी हो, कुछ लोच हो।

वा चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।

अजान तो आँख के जरा से ही इशारे से वशीभूत हो जाते हैं, पर सुजान का वश में कर लेना टेढी खीर है। वे आँखें ही कुछ और हैं। कैसी होती हैं। क्या देखने मे सब के जैसी नहीं होतीं ? उन आँखों की खूबी रसिक कवि ही अंकित कर सकता है। ठाकुर कहते हैं —

डीलदार, सीलदार, लाज की अहार जिन्है,
तीछन मृगा से देखि-देखि रहियतु है ।
मीन और खजन तौं अलसे अनोखे देखे,
कजदल हू तें ए निमेष चहियतु है ॥
ललित ललौंह, चमकौंह, चमकौंहे जानि,
'ठाकुर' कहत सुख पाइ रहियतु है ।
औरन के नैन कहाँ नैनन के लेखे आनि ?
ऐसे नैन होयँ तब नैन कहियतु है ॥

ऐसे नैन हों, तो नैन हैं, नहीं तो नहीं। सब से पहले डीलदार होने चाहिये । तारीफ बड़ी आँखो ही की है। बड़े की बात बड़े ही जान सकते हैं। छोटे मुँह बड़ी बात कहीं सुनी है? जब उनकी नोक कानों को छूती रहे, तभी उन्हें डीलदार कहना उचित है। कानों के छूने में क्या रहस्य है, सुनिये—

देखि री ! देखि या ग्वालि गँवारि की नेकु नहीं थिरता गहती है।
आनँद सो 'रघुनाथ' पगी रँगी रगन सों फिरती रहती हैं॥
छोर सो छोर तरयौना के छ्वै करि ऐसी बड़ी छवि कों लहती हैं।
जोबन आइबे की महिमा अँखियाँ मनो कानन सो कहती हैं॥

अजान कानों को यौवन के आने की खबर ही क्या थी, अगर आँखें चार कदम आगे बढ़कर उनको शुभ सवाद न सुना देतीं ? कानो को आँखों का एहसानमद होना चाहिये, नहीं तो काफी खिचाई होगी।

शीलदार और लाजभरी आँख लाख में एक की होती है।

इस वेहयाई के जमाने में कौन किसे समझता है ? जव शीलदार हो, तभी शीलदार भी हो। वड़ो मे ही लाज होती है। शील-सकोच का महत्व क्षुद्र क्या समझें ? जो हृदय के वड़े हैं, गहरे हैं, उनको ही जाति-अभिमान होता है। जाति की उन्नति से वे फूले नहीं समाते। कविवर रहीम ने कहा है—

सव ही कों सुख होत है, निरखि आपुनो गोत।
ज्यों वडरी अँखियानि लखि, आँखिन को सुख होत॥

वडों को ठगना भी हँसी-खेल नहीं। वडी आँखो मे धूल डालना वडा कठिन है। एक दिन श्रीकृष्ण राधिका जी के साथ आँख मिचौनी खेल रहे थे। राधिका जी की आँखे ऐसी-वैसी आँखें न थीं, कानों से बात करनेवाली थीं। कृष्ण के कर-कमलों में उनका वद हो जाना सहज न था। लाचार हो, खेल में कृष्ण को हार माननी पड़ी, और वोले—

कानन लौं अँखियाँ है तिहारी, इथेरी हमारी कहाँ लगि फैलिहैं।
मूँदेहुँ तें तुम देखती हौ, यह कोर तिहारी कहाँ लौं सकेलिहैं॥
'कान्हर' हूँ कहँ ख्याल यहै तिनको हम हाथन ही पर झेलिहैं।
राधेजू, मानौ भलो के बुरो, अँखमूँदनो संग तिहारे न खेलिहैं॥

न खेलिये, कौन बुलाने गया था ? यही वडी-वडी अनि-यारी आँखे, और कौन।

आँख का तीखापन भी सराहनीय माना गया है। यह तीखापन बड़ा मीठा होता है। सीधे सादे मुवारक को तो यहाँ तक विश्वास हो गया था कि कटाक्ष एक तेज तलवार है।

एक स्त्री आँख में काजल लगा रही थी। मुबारक ने देखा। आप उसके पास दौड़े गये और दयार्द्र हो कहने लगे—

काजर दे री न एरी सुहागिन !
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन !

कटाक्ष-बाण बड़े तेज होते हैं। यद्यपि ये हृदय को छेद कर वार से पार हो जाते हैं, तो भी इनकी कसक कसकती ही रहती है—

लागत कुटिल कटाच्छ-सर, क्यों न होहिं बेहाल।
कढ़त जि हियहिँ दुसाल करि, तऊ रहत नटसाल॥

—बिहारी

मृग की उपमा आँख पर जैसी कुछ बैठती है, वह कविता-रसिकों से अप्रकट नहीं। बिहारी ने इस उपमा पर अपने एक दोहे में कमाल किया है। वह दोहा यह है—

खेलन सिखये, अलि, भलैं, चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन-मृग, नागर नरन सिकार॥

मार (कामदेव) अहेरी ने कानन चारी (कानों तक विचरनेवाले अर्थात् विशाल, वन में रहनेवाले) नैनरूपी मृगों को कैसा सिखाया है, कि वे नागर (नगर-निवासी) लोगों का बेधड़क शिकार कर रहे हैं। अहेरी की विलक्षण चातुरी है। श्लेष हो तो ऐसा।

यही नेत्र-मृग मुख-चन्द्र के रथ में जोते गये हैं। कैसा रम्य रूपक है—

लसैं धीरैं चका सी चलैं श्रुति मैं, भृकुटी जुवाँरूप रही छवि च्वै।
अलकावलि डोरी कसी 'नृप सम्भुजू' सूत अनङ्ग दई छरी छ्वै॥
तम साँवरे रगहिं जानत हैं हठि पीछ परे हैं चलैं जित ह्वै।
कर छालत आवत नैन किधौं ये सुधाकर के रथ के मृग द्वै॥

धीरें अर्थात् कर्णाभूषण (ढारे) पहिये हैं, जो चल रहे है। भौंहें जुआँ हैं। अलको की डोरो से रथ में जुते हुए हैं। मन्मथ सारथी ने चाबुक भी धीरे मे जमा दिया है, इससे और भी वेग से चलने लगे हैं। श्रीकृष्ण के श्याम रग को अँधेरा समझते है। जहाँ-कहीं वे जाते हैं, वहीं चद्रमा के जाने को आवश्यकता अनुभव कर ये हठीले उनके पीछे-पीछे लगे रहते है। राधिकाजी के ये नेत्र हैं अथवा सुधाकर-रथ के चौकडी भरते हुए चपल कुरग ?

पीयूपवर्षी विहारी ने आँखों को तुरग भी वनाया है। इस उक्ति मे कवि लाजरूपी लगाम से भी नेत्र-तुरग को हाथ में नहीं रख सका।

लाज लगाम न मानहीं, नेना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरग ला, ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥

लगाम का खींचना ही फिजूल है। मुँहजोर घोडे भी कहीं किसी के वश के होते हैं ?

कुरग और तुरग का रग तो देख लिया, अब मीन और खजन की उपमाएँ और देखनी चाहिएँ। मीन की चचलता और जल के प्रति अनन्यता जगत्प्रसिद्ध है। सबने सब कुछ

कहा पर बाह्य-नेत्र-शून्य-सूर ने मीनोपमा को जैसा निबाहा, कोई क्या निबाहेगा ? सब उपमाएँ रद कर दीं, एक मीनता ही सूरदास को सच्ची जँची—

उपमा नैनन एक रही ।
कविजन कहत-कहत सब थाके, सुधि करि नाहिं कही ॥
नहिं चकोर, विधु मुख बिनु जीवत, भँवर नहीं, उड़ि जात ।
हरि-मुख-कमल-कोस बिछुरे तें, इत-उत कत मँडरात ॥
उधो बधिक व्याध ह्वै आये, मृग सम क्यो न पलात ।
भाजि जाहिं बन सघन स्याम में, जहाँ न कोऊ घात ॥
खंजन मनरंजन न होहिं ए, कबहुँ नहिं अकुलात ।
पंख पसारि न होहिं चपल गति, हरि समीप मुकुलात ॥
कमल न होहिं कौन विधि कहिये, झूठे ही तनु आड़त ।
'सूरदास' मीनता कछू इक, जलभरि कबहुँ न छाड़त ॥

मीन का ही गुण इनमें कुछ-कुछ है, कारण कि ये जल से कभी पृथक् नहीं होते, सदैव सजल अर्थात् अश्रुपूर्ण रहते हैं।

मीनोपमा पर गोसाईं जी की भी एक सूक्ति देख लीजिए—

प्रभुहि चितै पुनि चितै महि राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज-मीन जुग जनु बिधु-मंडल डोल ॥

आलस या नींद भरी आँखें भी कवि-जैसे निठल्लों को ही प्यारी लगती हैं। उन्हें जागने में आनंद नहीं मिलता। नीरस उद्योग को वे दूर से ही हाथ जोड़ लेते हैं। तभी तो आलस-भरी आँखों के शिकार बन बैठे हैं ॥

नहीं कहते बनी उपमा, भुलावे में पड़े हम भी।
सदाही 'दीन' हितकर राम-सीता की दया समझे॥

कवि के शब्दो में यह कविता तीनो रगों और दोनों आँखो के वर्णन का पचामृत है। हम भी कहते हैं—अवश्य है, निस्सदेह है।

कला और कृत्रिमता

[श्री रायकृष्णदास]

सम्राट् ने एक महल बनाने को आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व, सुख और सुखमा की सीमा।

देश-भर के बडे बडे स्थपतियों का दिमाग उसीका नक्शा तैय्यार करने मे भिड गया। नक्शा तैयार हुआ। उसे देख कर सम्राट् फडक उठे, उनके गर्व को बडी मधुर गुदगुदी हुई। जिसका नक्शा पसद हुआ था, उसके भाग्य खुल गये।

जिस समय उस महल की तैयारी का चित्र उनके मनोनेत्र के सामने खडा हुआ, ससार के बडे-से-बडे प्रासाद-निर्माता नरेन्द्र—आर्य्यावर्त्त, मिस्र, मय, बाबुल, चीन, पारस, ग्रीस, रोम, आदि के,—तुच्छ मालूम हुए क्योंकि उन्होंने भव्यता और चारुता का जो प्रदर्शन किया था वह इसके आगे कुछ भी न था।

जिन मदो मे सम्राट् मत्त हो रहे थे आज उनमें एक और बढा।

जिस भाग्यवान स्थपति की कल्पना ने इस भवन की उद्भावना की थी उसके तो पैर ही जमीन पर न पडते थे। सातवे आसमान की उडान मे उसे अपनी इस कृति के सिवा अन्यत्र कला दीख ही न पडती थी।

नहीं कहते बनी उपमा, भुलावे में पड़े हम भी।
सदाही 'दीन' हितकर राम-सीता की दया समझे॥

कवि के शब्दों में यह कविता तीनो रगों 'और दोनों आँखो के वर्णन का पचामृत है। हम भी कहते हैं—अवश्य है, निस्सदेह है।

अपने घर में एक महल बना रहा है—एक छोटा सा नमूना। लोग राजप्रासाद के और इसके सौंदर्य की तुलना करने लगे हैं कि वह इसके आगे कुछ भी नहीं, इसकी चारुता और कौशल अपूर्व हैं। नगर भर में इसकी धूम थी।

अधीश्वर की भावना को चोट लगी। जिस मूर्ति की वह उपासना कर रहे थे उस पर जैसे किसी ने आघात किया हो। परंतु वे ज्वलन प्रकृति के न थे, उनके हृदय में उसे देखने की इच्छा जाग उठी।

उनके हृदय में कला का जो राजस प्रेम था, वह उन्हें प्रेरित करने लगा। क्योंकि, उनसे कहा गया था कि जिस समय वह काम करने लगता है, मग्न हो जाता है, कहाँ क्या हो रहा है, इसकी खबर ही नहीं रह जाती। उसके चारों ओर देखनेवालों की भीड़ लगी रहती है। किंतु, इससे क्या! वह ज्यों का त्यों अपने विनोद में लगा रहता है। वे इस तल्लीनता को देखने के लिए उत्सुक हो उठे, अपने को रोक न सके।

एक दिन वह चुपचाप नोहार के यहाँ पहुंचे। दर्शक-समूह सम्राट् को देखकर खडबडाया किंतु उनके एक इंगित से सब जहाँ के तहाँ शाँत हो गये। चुपचाप सम्मान-पूर्वक उन्हें रास्ता दे दिया।

कलावंत की उस तन्मयता, उस लगन, उस समाधि के देखने में मनुष्य स्वयं तमाशा बन जाता था। महाराज भी वैसे हा रह गये। जिस प्रकार अचेतन यंत्र, चेतन बन कर काम

अस्तु।

ससार-भर की एक-से-एक मूल्यवान और दुर्लभ सामग्रियाँ एकत्र की गईं और वह प्रासाद बनने लगा। लाखों वास्तुकार, लाखों शिल्पी काम करने लगे।

नीहार भी उन्हीं मे से था। सगतराशों की एक टोली का वह मुखिया था और उसके काम से उसके प्रधान सदैव संतुष्ट रहते थे। किंतु वह अपने काम से सतुष्ट न था। उसमे कल्पना थी—जो नक्शे उसे पत्थरों मे तराशने को दिए जाते उनमे हेर-फेर और घटाव-बढाव की जो भी आवश्यकता सुरुचि को अभीष्ट होती, उसे तुरत भास जाती। परतु उसका कर्त्तव्य था केवल आज्ञापालन, अत यह आज्ञापालन वह अपनी उमग को कुचल-कुचल कर किया करता। पत्थर गढते समय टाँको से उडा हुआ छीटा उसकी आँखों मे उतना न कसकता जितना उन नक्शो की कुघरता।

इतना ही नहीं, उस सारे महल की कल्पना ही उसे वास्तु के मूल पुरुप, मय असुर, की ठठरी-सी मालूम होती और उस स्थान पर पहुँचते ही उसे ऊजड, भयावनेपन और बढनुमापन की ऐसी प्रतीत होती कि वह सिहर उठता, मन मे कहता—अच्छा ढढ्ढा खडा किया जा रहा है। क्या ढकोसला है।

और, उसकी कल्पना एक दूसरा ही कोमल स्वप्न देखने लगती—

धीरे-धीरे यह चर्चा महाराज के कानों तक पहुँची कि नीहार

अपने घर मे एक महल बना रहा है—एक छोटा सा नमूना। लोग राजप्रासाद के और इसके सौंदर्य की तुलना करने लगे हैं कि वह इसके आगे कुछ भी नही, इसकी चारुता और कौशल अपूर्व हैं। नगर भर में इसकी धूम थी।

अधीश्वर की भावना को चोट लगी। जिस मूर्ति की वह उपासना कर रहे थे उस पर जैसे किसी ने आघात किया हो। परन्तु वे ज्वलन प्रकृति के न थे, उनके हृदय मे उसे देखने की इच्छा जाग उठी।

उनके हृदय में कला का जो राजस प्रेम था, वह उन्हे प्रेरित करने लगा। क्योकि, उनसे कहा गया था कि जिस समय वह काम करने लगता है, मग्न हो जाता है, कहाँ क्या हो रहा है, इसकी खबर ही नहीं रह जाती। उसके चारों ओर देखनेवालों की भीड लगी रहती हे। किंतु, इससे क्या! वह ज्यो का त्यों अपने विनोद मे लगा रहता है। वे इस तल्लीनता को देखने के लिए उत्सुक हो उठे, अपने को रोक न सके।

एक दिन वह चुपचाप नोहार के यहाँ पहुचे। दर्शक-समूह सम्राट् को देखकर खडबडाया किंतु उनके एक इंगित से सब जहाँ के तहाँ शाँत हो गये। चुपचाप सम्मान-पूर्वक उन्हें रास्ता दे दिया।

कलावत की उस तन्मयता, उस लगन, उस समाधि के देखने में मनुष्य स्वय तमाशा बन जाता था। महाराज भी वैसे ही रह गये। जिस प्रकार अचेतन यंत्र, चेतन बन कर काम

करने लगता है उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यत्र होकर, अपनी धुन में लगा हुआ था। उसी की कामना के प्राबल्य ने चेतन-अचेतन का भेद मिटा दिया था—तभी न वह पत्थर मे जान डाल सकता था।

सम्राट् का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब पखडियाँ अलग-अलग होकर उड-पुड जाती हैं। जिस प्रकार शुक्ति मे रजत का भ्रम उसी समय तक रहता है जब तक वास्तव रजत सामने नहीं आ जाता, उसी प्रकार अपने प्रासाद के सबध मे वे जिस कला-आभास से अभिभूत हो उठे थे, यह प्रकृत कला दीख पडते ही वह जाने कहाँ विलीन हो गया।

विजृम्भा की मूर्ति बने सम्राट् उसे देख रहे थे कि नीहार क्षणेक के लिए किसी कारण अपनी उस निद्रा से जागृत हुआ। उसकी दृष्टि उन पर पडी—

उस समय उसके हृदय मे बडा हर्ष हुआ। उसने अपने इस निरुद्देश निर्माण का फल-सा पा लिया और वह सम्राट् के चरणो मे भक्तिभाव से नत हुआ।

सम्राट् ने उसे उठाकर अपने उन्मुक्त हृदय से लगा लिया। कह उठे—"वाह! यहाँ तो पत्थर एक स्निग्ध-हृदय से एकतानता करके मोम बन गया है। नीहार! तू धन्य है। निसदेह किसी शाप-वश पृथ्वी पर आया है, तभी तो यह वैजयन्त प्रासाद यहाँ निर्मित हुआ है।"

"नरेन्द्र! आप ही यह रहस्य जानें"—विनीत शिल्पी ने अपनी लघुता व्यक्त करके कहा।

"तो अब इसका निर्म्माण इसके रूप-सरूप के अनुसार होने दे—वह राज-भवन न बन कर यही बनेगा।"

"जो आज्ञा"—कह कर वह पुन नत हुआ।

महाराज ने महास्थपति को बुलाने की आज्ञा दी।

हरकारे दौडे और बात कहते वह महाराज के सामने उपस्थित किया गया। नीहार की कृति पर उसकी निगाह पडी, साथ ही मुँह बिचक गया। महाराज ने उस ओर इशारा कर के कहा—"देखो!"

महास्थपति नम्र होकर देखने लगा, किंतु चेहरे पर की शिकन ज्यों की त्यों कायम रही।

सम्राट् ने पूछा—"क्यों, कैसा है?"

"कैसे कहूँ"

"क्यो, सकोच क्या है?"

"यह देव को पसद आ चुका है।"

"तो उससे क्या हुआ"—सम्राट् ने साहस बँधाते हुए कहा—"तुम अपनी स्पष्ट राय दो।"

"एक खिलवाड है!"—नाक सिकोड कर उसने कहा।

"तभी तो इतना आकर्षक है!"

"किंतु निरर्थक तो है, स्वामी!"

"नहीं, रहस्यमय कह सकते हो। निरथक तो कोई वस्तु

कष्ट को दूर करने के लिए विश्व में अवतीर्ण होते हैं। विश्व की सेवा में, आत्म संतोष की उपलब्धि के लिए, सतत रत रहते हैं। कैसा सुंदर दृश्य है, कैसा पावन उद्देश्य है, कैसा पुण्य-संकल्प है, कैसी पवित्र साधना है।

राजीव ने अपने हृदय में आत्मा की स्वत. प्रकाशमान ज्योति को मानसिक लोचनों के द्वारा देखा, चकित होकर देखा कि स्वार्थ, द्वेष इत्यादि, सूर्य्योदय पर उलूक-पंक्ति की भाँति भागे जा रहे हैं। राजीव ने फिर सोचा—संतोष के मुख-कमल की मंद-मुसकान कैसी सुंदर है, निस्वार्थ दान की विमल जल-धारा में स्नान करके संतोष-जाया दरिद्रता कैसी शोभित होती है, आश्वासन की शीतल छाया में बैठ कर पश्चात्ताप की हृदय-वल्लकी का कैसा करुण-स्वर उत्थित होता है, सहानुभूति की कुसुम कोमल क्रोड में बैठ कर आशंका और अभाव मानों त्रिलोक की विभूति का परिहास करते हैं। कैसा स्वर्गीय आनंद है, कैसा निर्विकार उल्लास है, कैसी पवित्र स्फूर्ति है।

राजीव आंतरिक अनुभव करते हुए गृह-संलग्न-उद्यान में विहार करने लगे।

पवित्रभाव आनंद-महाकाव्य का पुण्य मंगलाचरण है।

(२)

अतुल वैभव की प्राप्ति यदि पूर्व-संचित पुण्य-पुंज का पुरस्कार है तो त्याग का संकल्प विशुद्ध आत्मा की नैसर्गिक साध

है। ऐश्वर्य्य की उपलब्धि यदि कठोर तप का फल है, तो निर्विकार दान निर्वाण की साधना का उच्च सोपान है, विलास का उपभोग यदि संसार-सुख की सर्वोत्कृष्ट सीमा है, तो सेवा की साधना स्वर्ग के आनंद की अपूर्व शांति है। संसार यदि शरीर का पक्षपाती है, तो स्वर्ग आत्मा का स्नेहाभिलाषी है। इसी स्वर्ग के लिए, इसी पूर्ण शांति के लिए, राजीव ने अपने शरीर और ऐश्वर्य्य की बलि देने का पूर्ण निश्चय कर लिया। राजीव! "शुभास्ते सतु पंथानः।"

राजीव ने सामने देखा—प्रातःकाल की सूर्य्य-श्री चमेली की कली का आलिंगन कर रही थी, गुलाब के अर्द्ध विकसित लज्जा-विनम्र मुख को देखकर कोकिला आनंद में उन्मत्त हो रही थी, रसाल के विशाल अंक में बैठकर माधवी और मालती बाल-चापल्य के साथ हँसी कर रही थीं, और दूर पर एक कुंज में उनकी नववधू प्रियतमा सरोजिनी अपने कल कंठ से एक सुंदर गान गा रही थी। राजीव सुनने लगे। गान-लहरी सूर्य्य की मनोहर किरणों के साथ नृत्य करने लगी, खिलते हुए फूल मानो आनंद से झूमने लगे।

गान

सँवरिया कैसो रंग रह्यो सरसाय।
हँसत कुसुमदल कलित कलिन सों, भ्रमर रह्यो अठिलाय।
बहत समीर सरस अति शीतल, बेलिन गल लिपटाय॥

कोकिल कोमल कुंजभवन में, कूकत हिय हरषाय ।
शोभित हार हिये 'हृदयेश' हि, देखहुँ मैं पहिराय ॥

राजीव रागपूर्ण राग को सुनते-सुनते उसी निकुंज की ओर चलने लगे। उन्होंने कुंज के द्वार पर जाकर देखा कि, सरोजिनी अपने सुमन-सुंदर कर से एक फूलों की माला गूँथते गूँथते अपने ही आप मंद स्वर में अलाप रही है। मधुर ध्वनि को सुनकर मानों सुमन हँस रहे हैं। आत्म-विस्मृत होकर सरोजनी के हाथ से प्रेम-सूत्र मे बंदी हो रहे हैं। कैसा दृश्य था, उषा-देवी सुमनो को मानो सूर्य्य की किरणों मे गूँथ रही थी। कविता-देवी मानो ललित भावो को शब्द-सूत्र मे पिरो रही थी। वसंत-श्री मानों विकसित पुष्पों का चंद्रहार बना रही थी। सुंदरता मानों विभिन्न मन-सुमन-समूह को एक में बाँध रही थी। चंद्रिका-चर्चित यामिनी मानो नक्षत्र-श्रेणी को चंद्रमा की स्निग्ध रश्मि में गूँथ रही थी। कुसुम-कली मानों कर-स्पर्श से रोमांचित हो रही थी, हँस हँस कर सरोजिनी के कर-पल्लव को चूम रही थी।

राजीव ने कहा "सरोजिनी! किसके लिए माला गूँथ रही हो?"

सरोजिनी ने लजाकर मृदु स्वर से कहा—"हृदय-देवता के लिए।"

राजीव ने कहा—"प्रिये! आओ! हम अपने समस्त ऐश्वर्य्य का हार माता के कंठ-देश में पहिरा दें। गूँथने में सहायता दोगी?"

सरोजिनी ने एक बार अनुराग-रंजित नेत्रों से राजीव को

देखा। सुमधुर शब्दों में 'हाँ' कहकर और मृदु मुसकान द्वारा प्रस्ताव का समर्थन करके, सरोजिनी ने हृदय-देवता के गले में भुज-लता की कोमल माला पहिना दी।

प्रेम और पवित्रता माता के कंठ-देश में माला पहिनाने के लिए चल दिये। सहानुभूति और सेवा मानों सशरीर होकर त्याग के कठोर कर्त्तव्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

कुसुम के दल के दल पतित होकर उनके मार्ग को कोमल बनाने लगे, विश्वेश्वर के आशीर्वाद की शीतल छाया उत्तप्त सूर्य की किरणों से उनकी रक्षा करने लगी।

त्याग का संकल्प विजय-दुन्दुभी का प्रथम निर्घोष है।

(३)

यतो सत्य यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविंदो यतो कृष्णस्ततो जयः ॥

—श्रीगीता

मंदाकिनी के मंद-मंद प्रवाहित निर्मल शांत जल में चैत्र का चंद्रमा अपने सुंदर वदन की श्री को देखकर आनंद से मुसकुरा रहा है। तुषार-जल कण सिक्त वन-पुष्पों से अठखेलियाँ करता हुआ समीर प्रकृति के दिनकर-कर-तप्त साम्राज्य को शीतल कर रहा है। राजीव अपने बाल्यबन्धु कुमुद के साथ परम रम्य दुकूल पर विहार कर रहे हैं। जगत् निस्तब्ध है, प्रकृति शांत है, समय मनोरम है।

राजीव अपनी चिंता में निमग्न हैं, कुमुद राजीव की शांत

वदन-श्री एकटक होकर देख रहे हैं। राजीव सोचते हैं—कैसा मनोरम शांत अवसर है। मदाकिनी के गुलाब-दल-कोमल क्रोड में चद्रमा, निर्बोध प्रकृति योगी बालक की भाँति हँस रहा है। मदा-किनी मानो वात्सल्य रस की धार होकर बह रही है। प्रकृति मानो विश्व को समीर-कर की थपकियों से सुला रही है। कैसा प्रेम है, कैसा आनन्द है! समस्त विश्व शांत होकर मानों भगवान की करुण छत्रच्छाया में सो रहा है ..।

कुमुद ने शांति भंग करके कहा—"भैया राजीव! क्या तुमने दृढ़ निश्चय कर लिया है?"

राजीव ने उत्तर दिया—"हाँ भाई! अपनी आत्मा की, परमेश्वर की प्रत्यक्ष प्रतिनिधि की आज्ञा का पालन किया है।"

कुमुद ने कुछ संदेहवश होकर कहा—"इस अवस्था में संसार का परित्याग करना तुम्हारा दुस्साहस है।"

राजीव ने कुछ हँसकर प्रत्युत्तर दिया—"संसार का परित्याग! नहीं भैया कुमुद! तुम समझे नहीं। मैं संसार का परित्याग नहीं करता हूँ, प्रत्युत संसार के साथ पूर्ण सहयोग करने को लालायित हो रहा हूँ। दरिद्रता के कंकाल शेष कलेवर में, वेदना के ज्वाला-भ्रमित शरीर में, निराशा के भग्न हृदय में मैं एक नूतन संजीवनी धारा को प्रवाहित करने के प्रयत्न में प्रवृत्त हुआ हूँ। कुमुद! यह क्या संसार का परित्याग है?"

कुमुद ने कुछ धीमे स्वर से कहा—"तब संसार-सुख से पराङ्मुख क्यों?"

राजीव हँसे। कुमुद की ओर स्नेह से देखकर कहने लगे—"भोले भैया कुमुद! मैं इस विश्व में प्रकृत आनंद को प्राप्त करने के लिए ही इस मायिक सुख की तिलांजलि दे रहा हूँ। इस कुसुम विनम्र लता को देखो। कैसी आनंदमयी है, देवता के चरण-कमलों में अपनी समस्त विभूति अर्पण करके वह कणमात्र भी दुखी नहीं होती है। चंद्रमा निस्वार्थ भाव से संसार के अंधकार-दुख को दूर कर रहा है। मंदाकिनी निस्वार्थ वात्सल्य से पृथ्वी को पवित्र कर रही है। इसी निस्वार्थ सेवा, निस्वार्थ प्रेम के लिए मैं प्रस्तुत हो रहा हूँ। समझते हो कुमुद!"

कुमुद ने अनुरागपूर्ण दृष्टि से राजीव की ओर देखकर कहा—"समझता हूँ भैया! न समझ कर भी मैं इतना अवश्य समझता हूँ कि, तुम कल्याणमति हो।"

राजीव ने उल्लसित होकर कुमुद का हाथ अपने हाथ में ले लिया, प्रेमपरिपूर्ण नयनों से उनकी ओर देखकर बोले—"भाई! कामी जिस काम-वासना के वश होकर जिन पयोधरों में काम का निवास देखता है, त्यागी उन्हीं में मातृत्व की वात्सल्य-धारा को देखकर कृतकृत्य होता है, जो नेत्र विलासी की दृष्टि में तीव्र यौवन-मद से अरुण दिखाई देते हैं, उन्हीं में प्रकृति प्रेमी प्रेम के आँसुओं का पुण्य निवास देख पाता है। कुमुद! प्रवृत्ति का पराजय करना होगा।"

कुमुद ने स्वर में स्वर मिलाकर कहा—"प्रवृत्ति का पराजय करना होगा।"